प्रकाशक—
श्री अमरनाथ जी
पाली भोगीपूर, कानपुर

सम्वत् २०१०

मूल्य १=)

द्वितीयावृत्ति १०००

विषय-सूची

ब्रह्मलीन श्री सन्त सद्गुरु नागा निरंकारी जी महाराज

सन्त दर्शन

हे समर्थ, हे परम हितैषी, तुम से ही कल्याण हमारा ॥
तुम्हें न पाकर व्यर्थ चला जाता मानव का जीवन सारा ॥

परम बन्धु युग युग के योगी, महाबुद्ध, हे अमर महात्मन ।
चूम सके जो चरण तुम्हारे उसका सफल हुआ मानव तन ।
देव तुम्हारे दर्शन करके लग जाता तुम में जिसका मन ।
तुम्हें छोड़ फिर कहीं न जाता तुम्हीं दीखते हो प्रियतम धन ।
कितनों ने ही सीख लिया मर कर जीने का मंत्र तुम्हारा ॥१॥

जाने कितने मुरझाये मुख खिलते देखे तुमको पाकर ॥
सदा पीड़ितों की पुकार पर रहे दौड़ते कष्ट उठाकर ।
जो न कहीं सुख देख मिला, वह देखा श्री चरणों मे आकर ।
जो न कभी हो सका वही, होगया तुम्हारा ध्यान लगा कर ।
शरण ले लिया उसको जिसने कभी हृदय से तुम्हें पुकारा ॥२॥

तुमको हमने दीनों दलितों की कुटिया मे जाते देखा ।
अपनी योग शक्ति से उनके तुमको दु:ख मिटाते देखा ।
कहीं अश्रु से गीली पलकें स्वामिन ! तुम्हें सुखाते देखा ।
जो कि तुम्हें करना था उसमे कभी न देर लगाते देखा ।
तुमने उसकी सुनी दयामय, जिसको सब ने ही दुतकारा ॥३॥

निज तन मन का ध्यान न रखकर तुमने पर उपकार किया है।
तुमने सदा बिना कुछ चाहे प्राणि मात्र से प्यार किया है।
हे संघर्षातीत! तुम्हीं ने षट रिपु का संहार किया है।
शरणागत डूबते हुए को जब देखा तब तार दिया है।
भव सागर में पड़े जीव को नाथ तुम्ही से मिला किनारा ॥४॥

हे अभेद द्रष्टा! मङ्गलमय, शोक विनाशक, हे विज्ञानी।
जन मन रञ्जन, भक्त पाल, हे बाल सखा, श्रद्धेय अमानी।
अतुलित प्राण-शक्ति के सागर गुण आगर हे अनुपम दानी।
तुमसे ज्ञान ज्योति पाते हैं जग के चिर-तमवेष्ठित प्रानी।
सदा अशक्त वृद्ध पीडित को, दिया तुम्हींने शक्ति-सहारा ॥५॥

वीत राग, हे परम तपस्वी, नित्य समाहित चित्त, धीर तुम।
शिव सुन्दर-सत्य के सम्मिश्रण, हरते भव की विषम पीर तुम।
पावन तप के ओज तेज से दीप्त मान निर्दोष वीर तुम।
हे सदर्शक परम तत्व के, चलते तम का हृदय चीर तुम।
पथिक हृदय को तुमसे मिलती दिव्य प्रेम की अविरल धारा ॥६॥
हे समर्थ! हे परम हितैषी! तुममें ही कल्याण हमारा ॥

श्रीपरमात्मने नमः

सन्त

(लेखक—पलक निधि 'पथिक')

सन्त का दर्शन मनन सत्य का दर्शन मनन है। सन्त की उपासना सत्य की उपासना है। सन्त की स्तुति सत्य की स्तुति है। जिस मानवी मूर्ति में उन्नतम ज्ञान के साथ उत्कृष्ट प्रेम एवं निर्लिप्तता, निर्द्वन्द्वता, निर्भयता और स्थिर शान्ति का दर्शन मिलता है, उसीको बुद्धिमान विवेकी पुरुष सन्त कहते हैं।

जिस शरीर में, वाणी में, मन में पुण्य पवित्रता प्रकाशित रहती है, जो नित्य प्रसन्न और आत्म-तृप्त रहते हैं, वही महापुरुष सन्त कहे जाते हैं।

जिनके अन्तःकरण में किसी प्रकार की भोगलालसा नहीं उत्पन्न होती ; क्षमा, दया, उदारता, विराग, विवेक, शम, दम, तितिक्षा, सरलता, परोपकारिता, निरभिमानता यही जिनकी सम्पत्ति है, वह संसार में सर्वश्रेष्ठ सन्त हैं।

सन्त के प्रति जो सर्वोच्च आदर है, पूज्य भाव है, श्रद्धा है, वह उनमें प्रतिष्ठित ज्ञान, पवित्रता, क्षमता, उदारता, त्याग अहिंसा, सत्यता, स्वाधीनता आदि के प्रति है, जो शाश्वत आत्मा के गुण हैं। सावधान मानव जब सन्त के आगे नत मस्तक होकर प्रणाम करता है, वह इन्हीं दिव्य गुणों के प्रति करता है।

अपने कल्याण के लिए सन्त की आज्ञा पालन करना ही सन्तसेवा है और सन्तसेवा ही विश्वरूप भगवान की सेवा है।

सन्त सभी अवस्थाओं, सभी परिस्थितियों एव जातिपाँति अथवा ऊंचनीच के भेद से ऊपर उठकर प्राणिमात्र से प्रेम करते है। सन्त के द्वारा ही ससार को सत्य का अथवा महत्तम गुण ऐश्वर्य का ज्ञान हुआ करता है। इन्हीं के द्वारा ससार में परमेश्वर की परम कृपा उतरती है। इन्हीं सन्तमहात्मा एवं सत्पुरुषों के द्वारा मानव जगत को सत्प्रेरणाएँ मिलती चली आ रही हैं, प्रकाश मिलता आ रहा है, और आगे भी इसी तरह मिलता रहेगा।

प्राय: प्रत्येक मनुष्य के सामने कोई न कोई आदर्श होता है, और आदर्श में जैसे भी गुण-कर्म-स्वभाव होते हैं, उन्हीं का मनुष्य पर प्रभाव भी पड़ता है; क्योंकि मनुष्य हृदय से जिस आदर्श को स्वीकार कर लेता है, उसीके प्रति उसकी प्रीति होती है, उस आदर्श की आज्ञानुसार ही वह चलता है तथा उसीकी प्रेरणानुसार कर्म करता हुआ तदनुरूप ही फल का भोक्ता बनता है। जिस मनुष्य का आदर्श पवित्र है, सत्य एवं सुन्दर है, वही शुद्ध कर्मों की हितप्रद प्रेरणा पा सकता है। प्रेरणा के बिना जीवन पशु-सा होता है और ज्ञान के बिना प्रेरणा भी अन्धी होती है। अत' बुद्धिमान मानव तभी सौभाग्यशाली समझा जायगा जबकि वह यथार्थज्ञानी सत्पुरुष की प्रेरणा प्राप्त कर सके।

यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्र सबसे प्रथम माता-पिता की आज्ञा का पालन करने की प्रेरणा देते है, तत्पश्चात विद्या गुरु कुलगुरु की आज्ञानुसार चलने की सम्मति देते हुए अन्त में पारमार्थिक सद्गुरु की आराधना को परमावश्यक बतलाते हैं। सद्गुरु की आज्ञा का पालन कोई श्रद्धालु व्यक्ति ही करता है, और श्रद्धा की दृढ़ता तब होती है, जबकि सन्त महापुरुप की गुण-गरिमा माप-तौल करने में असमर्थ होकर मानवीय बुद्धि

मौन धारण कर लेती है। श्रद्धा के विकास के लिए सन्त महान् पुरुषों के आदर्श चरित्रों का श्रवण-मनन परमावश्यक एवं सहायक है। प्रस्तुत पुस्तक मे आदर्श सन्त परमहंस श्री नागानिरंकारी जी महाराज के जीवनचरित्र का यथाशक्ति वर्णन किया जा रहा है। अतः प्रेमी पाठकों को सावधान होकर सद्गुरुदेव के पावन चरित्र से आदर्श शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अपनी लघुता को उनकी गुरुता से निवृत्त करते हुए अपने समग्र जीवन को गौरवान्वित करना चाहिए। श्रीगुरुदेव के शरणापन्न हो उनकी समीपता प्राप्त कर अपने लघुतर जीवन को गुरुतर बनाना ही सच्ची गुरुभक्ति है। ध्यान रहे—यहाँ समीपता का अर्थ गुरुदेव के शरीर के साथ रहनामात्र नहीं है, क्योंकि शरीर के साथ रहकर भी मन यदि किसी अन्य का मनन करता रहा, बुद्धि जगत्प्रपंच में ही विचरती रही, तब तो वास्तविक कल्याण न होगा। वास्तव में गुरुदेव के आदर्श सद्गुणों का मनन करते रहना, उनके सद्भावों का ही चिन्तन करना, तथा उनके पारमार्थिक गहन ज्ञान में अपनी बुद्धि को स्थिर रखना ही सद्गुरुदेव की सच्ची समीपता है। ऐसी समीपता शरीर से दूर रहने पर भी कल्याणकारिणी होती है। वास्तव में मन से भक्त होना ही सच्चा सङ्ग है और मन से विभक्त रहना ही असङ्गता है। मन जिससे मिलना है, उसीका उसपर प्रभाव भी पड़ता है।

अतएव बुद्धिमान मानव समाज को उचित है कि जो सन्त महापुरुष सद्गति, सत्प्रेरणा एवं प्रकाश के दाता हैं, उन्हें पहिचानें, और उनका अनुगमन करें। क्योंकि वीतराग परमज्ञानी महात्माओं के द्वारा ही मानव जाति का परमहित संभव है। सन्त महापुरुषों का जीवन चरित्र प्रायः अद्भुत एवं अलौकिक घटनाओं से पूर्ण होता है। उनके अद्भुत चरित्र दर्शन पठन एवं

मनन से सत्प्रेरणा और ज्ञान की प्राप्ति होती है। सन्तों की आज्ञा पालन से मानव को सद्गति परमगति तथा परमशान्ति का योग सिद्ध होता है।

अब हम सन्त सद्गुरुदेव के उस चरित्र के वर्णन का प्रयास कर रहे हैं जिसे हमने श्री नागानिरंकारी परमहंस जी के नाम रूप में देखा तथा सुना है। यह सन्तचरित्र हम जैसे दुर्बलों को सुन्दर बल का, अशक्तों को शक्ति का, दुखियों को सुख का, अशान्ति ग्रस्तों को शान्ति का, जिज्ञासुओं को सत्ज्ञान का, भाव प्रधान व्यक्तियों को भक्ति का, मोह भ्रान्तों को प्रेम का, एवं बद्धों को मुक्ति का सन्मार्ग दिखाने वाला है।

परमहंस श्रीनागाजी महाराज की भव्य ओजस्वी मनोहर मूर्ति को मैंने पहिले तो इन नेत्रों से देखा फिर परमहंस जी की कृपा से ही जैसे-जैसे मेरी बुद्धिरूपी दृष्टि खुलती गई वैसे ही वैसे उनके दिये हुए ज्ञानरूपी प्रकाश में, जहाँ तक वे अपने रूप को दिखाते गये मैं देखता ही गया और अब तक देखता ही जा रहा हूँ। मैंने यह भी देखा कि जैसा उनका नाम—सन्त सद्गुरु नागा निरंकारी—है, उसके अनुसार ही उनके जीवन का स्वरूप भी है। ये जगत के द्वन्द्वात्मक संघर्ष को पारकर नित्य-शान्त पद में प्रतिष्ठित हैं, इसलिये दर्शक इन्हे 'सन्त' कहते हैं।

ये संसार की किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति से स्वरूपतः नहीं तुल सकते प्रत्युत इनकी ही गुरुता से जगत् तुलता रहता है। इनकी शरण लेने पर ही मायाबद्ध मानव की लघुता एवं बद्धता दूर होती है, ये शरणागत शिष्य को अपनी गुरुता प्रदान कर उसे भी गुरु बना देते हैं; ये सद्धर्म का उपदेश देते हुए अज्ञान तिमिर नाशक, ज्ञान के प्रकाशक, सिद्धिदाता, पापनाशक एवं जीव को शिव तत्त्व से मिलाने वाले हैं, इसलिये ही इन्हें

"गुरुदेव" कहते है। इन महान पुरुष मे नीर-क्षीर की भाँति मिले हुए माया और ब्रह्म-तत्त्वों को विलग कर देखने की योग्यता है, यह महानुभाव इस असत् जगत् के आधार सत्य-तत्त्व का ही सर्वत्र अनुभव करते हैं। इसलिये ही सब लोगो ने इन्हें परम हंस माना है। ये जीवनमुक्त सन्त अपने सत्यस्वरूप में रहकर नाम-रूप के मिथ्याभिमान रूप आवरण से मुक्त हैं इसलिये इन्हें नग्न अर्थात् नागा नाम से सम्बोधित किया जाता है।

ये परम स्वतन्त्र योगिराज देह की आकार-प्रकारमयी सीमा से बद्ध न रह कर अपने को समस्त विश्व की आत्मा अनुभव करते हुए परमात्मा के अभेदानुभव में परमानन्दित रहते हैं अतएव ये निरंकार (निरहंकार) पद से विभूषित हैं। प्रेमी पाठकों को हमारे चरितनायक श्रीसन्त नागाजी के चरित्र में यह विशेषता दिखाई देगी कि—इनके शरीर मन एव मस्तिष्क की क्रियाओं में अधिकाधिक समता तथा ऐक्य है। इसलिये इनका व्यक्तित्व आदर्श महत्ता से विभूषित और समुज्ज्वल है। श्रीपरम हंसजी ने संसार की जो उच्चतम सेवाएँ की है वे बाहरी ऐश्वर्य बल से नहीं वरन् आन्तरिक तपोबल तथा ईश्वरीय गुण-ज्ञान के योग से की है।

यह शान्ति की साकार मूर्ति, जहाँ कहीं भी रहती थी, वहीं प्रेम स्नेह एवं शान्ति का वातावरण बना देती थी। इनकी असाधारण जितेन्द्रियता, पवित्रता, तथा इनके वीरोचित तेज का प्रभाव प्रत्येक दर्शक पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही पड़ता है। ये सर्वथा अहंकार रहित, गर्वशून्य तथा किसी के साथ भलाई करने पर भी निर्गर्व परम दयालु अत्यन्त सरल है। अब हमें यह देखना है कि श्रीसन्त सद्गुरुदेव की प्रत्येक क्रिया के पीछे किस प्रकार पवित्र भाव की प्रेरणा रहती है और प्रत्येक भाव के पीछे किस

प्रकार संयम द्वारा प्राप्त शक्ति का योग रहता है, साथ ही शक्ति के सदुपयोग के लिये किस प्रकार दिव्य विवेक अथवा विशुद्ध ज्ञान प्रकाश की भाँति कार्य करता है ?

एक विशेष बात और है,—वह है हमारे दृष्टिकोण की। हम लोगों को सन्त चरित्र का अध्ययन करते समय सावधानी के साथ अपना दृष्टिकोण ठीक रखना चाहिये जिससे कि चरित्र के मनन द्वारा उचित प्रेरणा और प्रकाश लेने में भूल न हो।

वास्तव में सन्तों के चरित्र की महत्ता उनको किसी प्रकार की आधिभौतिक सफलताओं के कारण अथवा उनके द्वारा नव रहस्यों के निर्माण के कारण नहीं है, प्रत्युत सत्याधार तथा परम शान्ति की खोज में सद्गुणों के उच्चतम विकास तथा आत्मा को पूर्ण बनाने वाली प्रगति से ही प्रगट होती है।

सन्त जन स्वभाव से ही त्यागी, ज्ञानी एवं प्रेमी होते हैं। उनमें इस असाधारण त्याग ज्ञान और प्रेम के कारण ही अलौकिक सौन्दर्य होता है जो प्रत्येक मानव को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस दिव्यता के कारण ही सन्त की समीपता में अनिर्वचनीय शक्ति का अनुभव होता है। आज किसी को भी कापाय वस्त्र धारण किये मुंडित अथवा जटा विभूषित तथा अन्यान्य विरक्ति परिचायक वाह्य वेप मात्र को ही देख, सन्त, महात्मा, परमहंस, निर्वाण आदि पद प्रदान कर देने की परिपाटी सी चल पड़ी है। किन्तु बुद्धिमान को ध्यान रखना चाहिये कि अनुकरण यदि सन्त महात्मा के वाह्य वेप की नकल रूप में किया गया है तो वह धोखा ही है, क्योंकि आकृति तो कुछ क्षण में बनाई जा सकती है, परन्तु भीतरी प्रकृति बनाने के लिये जब कितने ही जन्म अथक प्रयत्न किया जाता है तब कहीं गुरुत्व प्राप्त होता है।

यों तो प्रायः सभी मुमुक्षु गृह त्यागी एवं विरक्तों का वेष इसीलिये धारण करते हैं कि चित्त को शान्ति प्राप्त हो, दुख बंधनों से छुटकारा मिले, और परमात्मा का योगानुभव हो परन्तु अजितेन्द्रिय होने के कारण तथा अविचार वश त्याग और तप में आलस्य-प्रमाद होने के कारण अधिकांश व्यक्ति मोह-मान-माया में ही भूले रहते हैं। जितेन्द्रिय, तपस्वी त्यागी एवं ज्ञानी पुरुष ही सन्तपद अथवा गुरुपद को प्राप्त कर पाते हैं। ऐसी महान् आत्माओं का जीवन चरित्र कुछ विलक्षण ही होता है।

हमारे चरित्र नायक श्री सन्त बाबा निरंकारी जी महाराज के जीवन चरित्र में भी हमें विशेष विलक्षणता का चतुर्मुखी दर्शन होता है।

आशा है हमारे प्रेमी पाठक लेखक के नम्र निवेदनानुसार अपने दृष्टिकोण को निर्मल बनाकर इस सन्त चरित्र से सत् प्रेरणाएँ प्राप्त कर प्रकाशमय जीवन बनायेंगे।

सन्त का आविर्भाव

संसार में सर्व साधारण जीव अपने ही सुख प्राप्ति के लिये जन्म लेते रहते हैं किन्तु जो दूसरे के हित में तत्पर दिखाई देते हैं वे ही सन्त महापुरुष हैं। ऐसे सन्त का अवतरण तब होता है जब जगत में कुछ देना होता है, जब जगत को इनके सहयोग की आवश्यकता होती है। सन्त अपने लिये नहीं किन्तु जगत के लिये ही आते हैं, प्राणिमात्र में स्नेह, गुणियों में मुदिता, दुखियो के प्रति दया और विद्रोहियों में उपेक्षा भाव रखना इनके जीवन की विशेषता होती है। सन्त संसार में आकर माया, अभिमान और मोह से बचकर अपने आध्यात्मिक उत्थान एवं जगत के कल्याणार्थ पवित्र अनुष्ठानो में ही लगे रहते है। संसारासक्त व्यक्तियों के लिये जो आपदाएँ हैं, कष्ट हैं उनका ये सन्त सहर्ष स्वागत करते है।

सन्त के जीवन में आरम्भ से ही उदारता, दया, कष्ट, सहिष्णुता, सुखों से अनासक्ति रहा करती है। अपने व्यक्तित्व की संकीर्ण परिधि को पार कर सर्वात्मा, विश्वात्मा से अभिन्न परमात्मामय होने का प्रयत्न करना सन्त की साधना और अंत में इसी की सिद्धि देखी जाती है।

श्री परमहंस जी महाराज से प्रसंगोपात (कभी-कभी होने वाली वार्ता से) हम लोगों को केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि इनके शरीर का जन्म पंजाब प्रान्त के किसी राजघराने मे हुआ था। किसी-किसी से इन्होंने शरीर के जन्म-स्थान का नाम अठीलपुर नगर बताया था जो कि रावी नदी के पश्चिम था।

ज्ञात नहीं कि अब उस नगर के भग्नावशेष चिन्ह किसी रूप में मिलते हैं या नहीं ?

इनके शरीर-जन्म के प्रथम इस राज माता के सन्तान तो हुई थी किंतु जीवित न रहती थी। वह माता सन्त महात्माओं में श्रद्धा रखने वाली भक्त देवी थी। एक बार एक सन्त ने ही माता को आशीर्वाद दिया कि अब जो तेरे पुत्र उत्पन्न होगा वह जीवित रहेगा परन्तु उस बालक के सिर पर कभी उस्तरा न फिरने पाये, क्योंकि यह बालक घर में न रहेगा।

महान् पुरुषों को अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा किसी भी महान् आत्मा के पृथ्वी पर अवतरण और तिरोधान का कुछ समय पूर्व ज्ञान हो जाया करता है। अतएव वे किसी मुक्तात्मा सन्त के आने-जाने की प्रथम ही सूचना दे दिया करते हैं।

वह राजमाता सन्त के गूढ़ निर्देश (भावी सूचना को) समझ सकी हो—या न समझ सकी हो किन्तु वह तो उनके इस आशीर्वाद से ही तृप्त हो गई कि पुत्र जीवित रहेगा। निदान कुछ समय के बाद सन्त का आशीर्वाद प्रत्यक्ष हुआ, अर्थात् इन्हीं श्री स्वामी जी के शरीर का जन्म—(जिनकी कि यह जीवनी आप पढ़ रहे हैं) उस माता के गर्भ से हुआ। जन्मते समय इनका शरीर इतना छोटा था कि माता के पति तथा श्वसुर ने इनके शरीर को देखकर खेद प्रगट करते हुए कहा—इस छोटे-से शरीर से हमारा राज कार्य कैसे चलेगा। यह लड़का तो हमारे किसी काम का नहीं है। माता के हृदय को भला यह शब्द कैसे प्रिय लगते ? माता ने तो सन्त के आशीर्वाद से यह संपत्ति प्राप्त की थी। उसे सन्त का आशीर्वाद याद आ गया होगा। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया कि "चलो, राज कार्य न कर सकेगा तो न सही फकीरी तो कर सकेगा।"

धन्य है माता की ममता और विशाल हृदय की उदारता को। पुरुष हृदय भला उसका कैसे अनुभव कर सकता है। इस माता का श्रद्धालु हृदय सन्त-जीवन की महत्ता से अभिभावित है। अपने पुत्र के लघु कलेवर को देखते हुए यदि संसार की दिशा में निराशामय आवरण सुख को छिपा देता है तो तुरन्त ही परमार्थ की दिशा में स्वर्णिम शान्ति की सूचना देने वाली आशा की किरणें चमक उठती है।

माता एक दैवी स्वरूप की कल्पना करती हुई कहने लगती है "यदि कुछ भी न कर सकेगा तो मेरा लाल फकीरी तो कर सकेगा।"

धन्य माता, तुम कितनी चतुर एव दूरदर्शिनी हो ? अरे, जो फकीरी कर लेगा उसे फिर और करना ही क्या शेष रह जायगा ?

उस माता के पुत्र रूप में स्वामी जी ने फकीरी ही की और पूर्ण सन्त पद मे प्रतिष्ठित होकर ही रहे।

पाठक स्मरण रक्खे—यहाँ फकीरी का अथ वह पूर्ण तप है जिससे परम शान्ति का योग होता है। श्री स्वामी जी के द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि घर में पिता की अपेक्षा माता ही उनका विशेष प्यार-दुलार करती थीं। संपत्ति एवं सुखद पदार्थों की कमी न थी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा इनका बाल्योचित शृंगार तो होता ही रहता था। एक योगी आत्मा में भला सासारिक वस्त्राभूपणों के सौन्दर्य का क्या महत्व होगा, फिर भी बालक्रीड़ा का होना तो—स्वाभाविक था ही। श्री स्वामी जी का यद्यपि शरीर अभी अत्यत छोटा था फिर भी उस छोटे शरीर में आत्मा अति विशाल एवं ऊँची थी। साथ ही इस महान् आत्मा में दैवी गुणों की किस प्रकार प्रधानता थी इसकी झलक स्वामी जी की बाल्यक्रीड़ाओं में ही मिलने लग गई थी।

प्रायः बालक सभी निर्भय होते हैं किन्तु कुछ समझदारी आने पर सब में किसी न किसी प्रकार का भय जाग्रत हो जाता है। हमारे चरित नायक में कहीं भी भय का लेश न था। इसलिये ही प्रायः किसी के साथ की अपेक्षा न रखते हुए अकेले ही इधर-उधर निकल जाते और घंटों बाहर ही बैठे रहते थे। उस राजमहल के पीछे अन्तःपुर से संबन्धित एक बहुत बड़ा सरोवर था, अपना अधिकांश समय वह यहीं बिताया करते थे। जब कहीं बालक मंडली मिल जाती तो घंटों उसी के साथ खेलते रहते थे। एक बार खेलते हुए इन्होंने एक भिक्षुक को भीख मांगते देखा—उसे देखते ही इनका हृदय दया से द्रवित हो गया, दया की क्रिया दान के रूप में होनी ही चाहिए। उसी समय इन्होंने बहुमूल्य हीरक जड़ी अँगूठी उतार कर उसे दे दी।

अँगूठी के मूल्यवान होने का ज्ञान तो परिवार के उन्हीं व्यक्तियों को था जो सांसारिक संपत्ति को ही सर्वोपरि महत्त्व देते थे अतः उन्हे ही अँगूठी के खो जाने का खेद भी हुआ होगा किंतु दैवी संपत्ति से परिपूर्ण पुरुष को तो सांसारिक संपत्ति के दान एवं त्याग करने पर सन्तोष होता है। श्री स्वामी जी की दृष्टि में सांसारिक पदार्थों का कुछ मूल्य भासता ही न था। भासे भी कैसे ? क्योंकि जन्मान्तरों से दान और त्याग के संस्कार दृढ़ हो चुके थे। अतएव इस जीवन के आरम्भ में उन्हीं उच्च संस्कारों की क्रियाएँ स्वयमेव होने लगीं।

एक बार यह बाल बिरागी बहुमूल्य शाल ओढे हुए खेलने चले गये। खेलते-खेलते उस शाल को कहीं भूल आये और शाल का उन्हें बिल्कुल ध्यान ही न रहा।

इस प्रकार की लापरवाही देखकर परिवार के लोग सजग

हो गये होंगे, स्वामी जी को भी शृंगारिक पदार्थों के सम्पर्क से अनायास ही छुटकारा मिल गया होगा।

हम लोगों ने अनेक बार यह अनुभव किया कि स्वामी जी को कुछ पहिनने अथवा पहिने हुए वस्त्रादि को उतारने का अभ्यास ही न था। अपने जीवन के पिछले समय में जब भक्त गण उनके शरीर में कुर्ता डालने लगे थे तो यही अवस्था सदैव देखी गई कि वे दूसरे के पहिनाने पर पहिनते और दूसरे के उतारने पर ही उतारते थे। श्री स्वामी जी की बालयावस्था में ही मुसलमानों ने पंजाब पर चढ़ाई की और उस लड़ाई में ही उनके इस शरीर के पिता मारे गये तथा माता सती हो गईं। स्वामी जी बतलाते थे कि सती होने से प्रथम माता ने हमारा प्यार किया और पीठ पर हाथ फेर कर शुभाशीर्वाद दिया।

माता के न रहने पर पता नहीं कब और कैसे—स्वामी जी वहां से भागकर एक प्रसिद्ध सन्त के पास आकर रहने लगे। स्वामी जी बालक रूप में तो थे ही उस सन्त आश्रम में भी आप अपने खेल-कूद में ही व्यस्त और अपने आप में ही मस्त रहा करते थे। वे सन्त किसी ओषधि के सहयोग से चाँदी बनाना जानते थे उनके यहाँ जो शिष्य रहते थे उनके द्वारा उस चाँदी को बिकवा कर अपना निर्वाह करते थे।

किसी से कुछ माँगते न थे। भला हमारे इन स्वामी जी से यह सोना चाँदी बेचने का व्यापार कैसे हो पाता? जिसे अपने तन के लिये भोजन वस्त्र की भी आवश्यकता तथा चिंता न प्रतीत होती हो वह चाँदी के दाम कैसे सँभाल सकता है? इस बाल ऋषि को तो एकमात्र खेलने का ही प्रबल अभ्यास था। इनके इस खेलने में क्या रहस्य था इसे कुछ विरले भाग्यवान ही जान सके। यह ध्रुव सत्य है कि महान् पुरुष अपने महान् कार्य की

पूर्ति के लिये उस परिस्थिति में जन्म लेते है जिसमें उनकी अभीष्ट सिद्धि के लिये सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त होती रहे।

श्री स्वामी जी को तो अपना जीवन तप, त्याग, ज्ञान और प्रेममय तथा मुक्त बनाना था। साथ ही अनेक जन्मो के अपने-सांसारिक सम्बन्धियों के ऋणानुबंध से सेवाओ द्वारा मुक्त होना था, इसके अतिरिक्त उन्हें उन प्रेमी जीवात्माओं का उद्धार भी करना था जिन्होंने कभी किसी प्रकार से भी स्वामी जी की सेवाएँ की थीं। इसके साथ ही साथ लाखों नर-नारियों को भी सन्मार्ग में लगाना था ही, इस महान् सकल्प की पूर्ति के लिये वास्तव में वैसी सुव्यवस्था होनी चाहिये जैसी कि स्वामी जी के जीवन प्रभात की प्रथम किरण द्वारा ही चमकने लगी थी। अन्त में कुछ दिन बाद ही स्वामी जी ने उन सन्त की समीपता का आश्रय भी त्याग दिया और अकेले ही यत्र-तत्र विचरने लगे। उन सन्त ने इन का नाम हरनामदास जी रक्खा था।

सन्त का तपोमय जीवन

सबसे प्रथम सर्वभावेन आत्मशुद्धि के लिये राग द्वेषादि दोषों से मुक्त होना होता है, मिथ्यामय तथा अभिमान से ऊपर उठने के लिये असयम, सुख तृष्णा तथा अज्ञान अन्धकार पर विजय प्राप्त करनी होती है और अपनी सारी दुर्बलताओं का अन्त करने के लिये दैवी शक्ति प्राप्त करनी होती है। इन सिद्धियों के लिये ही कायिक, वाचिक, मानसिक तप करना अत्यावश्यक है। तप से समग्र अन्त करण का मल धुल जाता है और वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे त्यागपथ में प्रगति होती है, तथा ज्ञान का निर्मल प्रकाश प्राप्त होकर सत्य का साक्षात्कार होता है। आदर्श तपस्वी में ही आतरिक ओज, उत्साह, साहस, सुदृढ़ धैर्य, आत्मनिग्रह, तथा उच्च विचारों की गभीरता का आपको दर्शन होगा। इन्द्रिय दमन मन. सयम और सकल्पों की दृढ़ता आदि सद्‌गुणों का यदि आप कहीं साकार स्वरूप देख पायेंगे तो वह कोई आदर्श तपस्वी ही होगा। किन्तु सात्विक तप मे ही सद्‌गुणों की प्रधानता देखी जाती है, इन्हीं सद्‌गुणों के द्वारा योगी अपने लिये परम शान्ति और दूसरों की सेवा के लिये शक्ति प्राप्त करता है।

इन महापुरुष का अपने शरीर की किशोरावस्था से ही अनायास उग्र तप आरम्भ हो जाता है, वास्तव में इनका जीवन भोगपथ मे उतरा ही न था, इसीलिये इन्हे तपस्या में कहीं भी कुछ कठिनता प्रतीत न हुई। सन्त महापुरुष शरीर, मन, वाणी तीनों ही से तपस्वी होते हैं।

अपने शरीर द्वारा पूज्यास्पदों का पूजन और निरालस्य होकर पात्रों की सेवा, स्वच्छता, सरलता ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा यह

शारीरिक तप कहा जाता है। सत्य, प्रिय, सार्थक और किसी को दुख न पहुँचाने वाले वचन बोलना, भगवच्चरित्र गान करना, नाम जप में लगे रहना, किसी की निंदा न करना, व्यर्थ कर्कश-कठोर, वाक्यों का प्रयोग न करना यह वाचिक (वाणी का) तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता भग न होने देना सदा शान्त, सौम्य रहना, सत्य का ही मनन करना शक्ति का सयम, तथा सदैव अन्तःकरण की शुद्धि का ही पक्ष लेना यह मानसिक तप है। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में सतोगुणी रजोगुणी एव तमोगुणी यह तीन भेद और भी तप के वर्णन किये गये है।

जो विचार पूर्वक भोग जनित सुखों को तुच्छ समझ सुखद वस्तुओं से विरक्त होकर सग्रह का त्याग करते है तथा अपने शरीर की रक्षा मात्र के लिये अन्न वस्त्रादि का उपयोग करते हैं, जो भगवत्प्रेम में विरहाकुल होकर शरीर के सुख-दुखों को भूले रहते हैं अतएव भोजन वस्त्रादि के ग्रहण में भी उपेक्षा रखते हैं अथवा अपने सर्वाङ्गों को शुद्ध बनाने तथा दोप निवृत्ति के लिये दैनिक, साप्ताहिक या मासिक व्रतोपवासों को निरभिमान हो पूर्ण करते रहते है वे मानव सतोगुणी तपस्वी हैं।

जिस तप के आरम्भ में श्रद्धा सहित प्रेम, सत्य आग्रह और अन्त में शक्ति का सेवा तथा परहित में भगवत्प्रीत्यर्थ ही सदु-पयोग होता है वही सतोगुणी तप कहलाता है। जिस तप से अहंकार न बढ़े वही शुद्ध तप है। जिस तप के आरम्भ में किसी की समता प्राप्त करने का आवेश, सिद्धियों का प्रलोभन, हठाग्रह और अन्त में सिद्धियों की शक्ति प्राप्ति का सुख-स्वार्थ में उपयोग किया जाता है तथा जो सत्कार मान, प्रतिष्ठा के लिये किया जाता है वह रजोगुणी तप है।

इसी प्रकार जिस तप के आरम्भ मे अहंकार दुराग्रह और

अन्त में अभिमान पूर्वक द्वेष क्रोधादि दुर्विकार रहते हैं वह तमोगुणी तप होता है।

हमारे चरित्र नायक श्रीस्वामी जी महाराज में सर्वत्र सतोगुणी तप का ही दर्शन मिलता है। सतोगुणी तप की सिद्धि सतत विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता, प्राणिमात्र पर दया तथा प्रेम भाव के द्वारा ही होती है। स्वामी जी महाराज में यह गुण बड़ी सरलता से पाये गये। स्वामी जी के कर्तव्य पथ में यदि कभी शरीर एव मन के प्रतिकूल कुछ बाधा आ भी जाती थी तो भी यह अपने निर्दिष्ट-लक्ष्य से कभी विचलित एव सुख से मोहित नहीं होते थे।

सर्दी-गर्मी, वर्षा, आधि, व्याधि, उपाधि आदि जो भी द्वन्द्वाघात इनके सामने आये उन सबको अटूट धैर्य के साथ सहन करते हुए इन्होंने अपने आदर्श तप को निष्कलक रक्खा। ये अपनी निन्दा करने वालों, अनादर करने वालों तथा अकारण हानि पहुँचाने वालों के प्रति स्वप्न में भी बदले की इच्छा न रख उन्हे क्षमा करते हुए पूर्ण सहिष्णुता पालन करते हुए अपने तप की महत्ता को उज्ज्वल बनाते रहे। यदि इतना उत्कृष्ट तप न होता तो ये इतने महान नहीं हो सकते थे। स्वामीजी का तपश्चरण अन्य साधकों की भाति भोगमय जीवन से लौटकर प्रायश्चित स्वरूप में न था प्रत्युत इनकी जीवन-यात्रा स्वभावतः ऐसी विधि से हुई कि आप ही आप तपस्या होने लगी।

यह प्रथम ही निवेदन किया जा चुका है कि श्रीस्वामीजी अपने घर से ऐसी स्थिति एव अवस्था में बाहर निकले थे कि, जिसमें सभवत उन्हे स्वय वस्त्रादि पहिनने की आवश्यकता प्रतीत न होती होगी। कदाचित् कोई वस्त्र चलते समय शरीर पर रहा भी होगा तो सन्त की शरण में आकर फिर दुबारा वस्त्र बनवा

कर पहिनने की चिंता ही किस होती ! फिर भला स्वयं सिद्ध अवधूत को धोती-लँगोटी की आवश्यकता ही क्या थी। आगे चल कर श्रीस्वामीजी के नग्नरूप को देख सब लोग इन्हे नागा बाबा कहने लगे और यही नाम प्रचलित हो गया। बिल्कुल नङ्ग धडङ्ग रहना, बालकों के साथ खेलना, धूलिधूसरित देह, सांसारिक सुख वासनाओं से विरक्त, श्रीस्वामीजी महाराज बाल्यकाल मे ही इसी अवधूत दशा में विचरने लगे। महान पुरुष स्वभाव से ही त्यागी तपस्वी और दिव्य गुण सम्पन्न हुआ करते है। इनके तप-त्याग, ज्ञान और विशुद्ध प्रेम से ही इनकी अलौकिक महत्ता का परिचय मिलता है।

साधारण साधकों को जितेन्द्रिय एवं तपस्वी होने के लिये क्रमशः हठपूर्वक अभ्यास करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप किसी प्रकार सध जाने पर भी आन्तरिक तपः सिद्धि में कठिनता पड़ती है। सारांश, आकृति बन जाने पर भी प्रकृति नहीं बन पाती। पूर्व का दृढ़ हुआ आहार-विहार-विषयक अभ्यास ही मन तथा इन्द्रियों के संयम में बाधक बनता रहता है। परन्तु स्वामी जी में ऐसे कोई संस्कार ही न थे। इनके शरीर तथा मन में वस्त्र पहिनने तक के सस्कार न पड़ पाये थे। इसके विपरीत यह सदैव नग्न रहने के अभ्यासी हो चुके थे। आरम्भ से ही दिगम्बर रहते-रहते इनमें तीव्र सर्दी-गर्मी सहन करने की असाधारण क्षमता अनायास ही बढ़ गई थी। सर्दी के दिनों में भी यह उसी प्रकार स्नान करते थे जिस प्रकार गर्मियों में किया जाता है। स्नान के बाद विभूति लपेटते फिर उसे पंखे की हवा से सुखवाया करते थे। जहां साधारण मनुष्य सर्दी-गर्मी के वेग का दुःख पूर्वक सहन करते वहाँ स्वामी जी महाराज सभी प्रकार के द्वन्द्वाघातों में अविचलित रूप से स्नेह प्रदर्शन किया करते थे। इन्हे द्वन्द्वा-

त्मक वेदनाओं को तटस्थ होकर देखने का दृढ़ अभ्यास था।

श्री स्वामीजी महाराज ने बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक नग्न रूप में ही पैदल यात्रा करते हुए कितने वर्ष व्यतीत किये इसका पता हम लोगों को न लग सका क्योंकि इनकी शारीरिक आयु का हम लोगों को प्रयत्न करने पर भी कुछ ठीक ज्ञान न हो सका।

श्री स्वामीजी का तपश्चरण दुर्बलता से आरंभ न होकर सबलता से आरम्भ होता है और इन्हे असाधारण शक्ति से पूर्ण बना देता है, इन महान पुरुष का तप सदोपक्षेत्र से आरंभ न होकर निर्दोष क्षेत्र से प्रारम्भ हो सद् गुणोंएव सद्भावों से उन्हे अलङ्कृत करता हुआ दिव्य ज्ञान और विज्ञान क्षेत्र में इन्हे पहुँचा देता है। यही कारण था कि स्वामीजी महाराज स्वत. कहीं शिक्षा न प्राप्त करते हुए भी उच्चतम सदभाव सत् ज्ञान एवं विज्ञान के प्रकाशक थे। यह सब सात्त्विक सम्पत्ति राशि उन्हें उत्कृष्ट तप प्रभाव से ही प्राप्त हुई थी, तप से ही शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति से ही तप की सिद्धि होती है। तप की शक्ति है सहिष्णुता और इसी महाशक्ति से तप सिद्ध होता है। शारीरिक सहिष्णुता की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य व्रत रूप तपश्चरण द्वारा वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है।

इसी प्रकार मानसिक सहिष्णुता के लिये अटूट धैर्य की आवश्यकता है, इस अटूट धैर्य की स्थिरता यथार्थ विवेकी पुरुष में ही होता है। साराश, ब्रह्मचारी मानव ही स्थिर धैर्यवान्, यथार्थ विवेकी होकर सच्ची तपस्या कर पाता है। अन्य व्यक्ति तो विशेष प्रयत्न करने पर भी तप की साधना में कुछ ही दूर तक बढ़ पाते हैं।

श्री स्वामी जी महाराज अखड बालयती भी थे तथा पूर्ण

सहिष्णु भी थे। उनमें सुदृढ़ धैर्य एव परम विवेक था अतएव बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के तपों से परिपूर्ण थे। जिन स्थानों मे स्वामी जी महाराज ने कुछ दिनों निवास किया है, अथवा जिन स्थानों में विचरण किया है वहाँ के निवासियों एवं सेवा प्रेमी भक्तों ने स्वामी जी की अभूतपूर्व सहिष्णुता का दर्शन किया है।

इस समय हम उन कार्यों की चर्चा न करते हुए केवल यही जानने का प्रयत्न करते हैं कि स्वामी जी का तप किस प्रकार सर्वांगपूर्ण एव शुद्ध था। इतना ही नहीं, कि स्वामी जी सदा नग्न रहकर सर्दी गर्मी की वेदनाओं पर ही विजय प्राप्त कर सके थे वरन् ये इससे आगे वाक्तप और मनस्तप में भी पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। श्री स्वामी जी अपनी वाणी पर सहज ही उत्कृष्ट सयम रखते थे। यह अत्यन्त मितभाषी एव प्रिय मधुर वक्ता थे। इन्हे कभी भी कटु वाक्यों का प्रयोग करते तथा कर्कश स्वर में कठोर बोलते हम लोगों ने सुना ही नहीं।

अपने तपश्चरण की प्रारम्भिक अवस्था में तो लगभग १२ वर्ष तक स्वामीजी महाराज मौन ही रहे, इसके उपरान्त जब कुछ बोले भी तो अपनी ओर से कुछ नहीं बोले—जिसने जो कुछ कहा वही शब्द स्वामी जी ने दुहराकर लौटा दिया। यह प्रतिध्वनिक क्रम भी बारह वर्ष तक चलता रहा। जिसने जो कुछ उच्चारण किया वही स्वामीजी ने भी कह दिया चाहे वह वाक्य प्रिय हो अथवा अप्रिय। इस स्थिति मे रहते हुए स्वामी जी का कुछ भेद ही न मिलता था कि यह होश में है या पागल है, ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं। अधिकतर लोग पागल ही समझा करते थे। जब तक स्वामीजी की इस प्रकार से ध्यानावस्था चलती रही तब तक प्रायः वे बालकों में ही रहते थे उन्हीं के साथ खेलते थे।

जो बालक करते वही आप भी करने लगते और जो बालक कहते वही आप भी कहते रहते थे।

प्रायः जन साधारण स्वामीजी की स्थिति से परिचित हो गये थे अतः जब कोई भक्त स्वामी जी को कहीं ले जाना चाहता अथवा अपनी कोई समस्या सुलझाना चाहता तो वह बालकों के द्वारा ही स्वामी जी को चाहे जहाँ ले जाता तथा बालकों को आगे करके ही उनसे चाहे जो कार्य करा लेता था।

कभी-कभी कुछ बालक खेल ही खेल में स्वामी जी को बड़ी कठिन परिस्थिति में छोड़ देते थे। एकबार हमारे स्वामी जी बालकों के साथ खेलते-खेलते यमुना किनारे पहुँच गये। जिस गाँव के ये बालक थे वह गाँव नदी के समीप ही था। बालकों ने खेलते-खेलते एक ऊँची कँगार से स्वामी जी को यमुना में ढकेल दिया। पानी गहरा था, धार भी तेज थी, उस तीव्र प्रवाह में स्वामी जी बहते हुए मीलों चले गये। किसी दूसरे ग्राम के सामने सभवतः किसी लड़के को ही देखकर किनारे आ लगे और उसी तरह फिर बालकों के साथ खेलना प्रारम्भ कर दिया।

उस अवस्था में स्वामी जी की ऐसी धारणा बन गई थी कि जिधर जिस ओर को चले चलते ही चले जायँ पीछे की ओर लौटें ही नहीं इस प्रकार जब उत्तर दिशा की ओर चले तो नैपाल चले गये। और वहाँ से तिब्बत, यहाँ तक कि चीन तक पहुँच गये। श्रीस्वामीजी द्वारा ही यह ज्ञात हुआ कि वहाँ यह किसी की भाषा समझ ही न पाते थे। स्वामीजी को तो बोलना ही क्या था। माँगना कुछ था ही नहीं जब कभी किसी ने स्वयं कुछ खाने पीने को दे दिया, खा-पी लिया। चीन में एक साहब के बाग में आप घुस गये। जितने दिन चीन में रहे उसी बाग में ठहरे। उस साहब ने भी इन्हे हिन्दुस्तानी सन्त समझ इनकी

सेवा की और अनुकूल भोजन आदि का प्रबंध भी कर दिया। चीन से फिर इनकी यात्रा की दिशा बदल गई और न मालूम किस मार्ग से आसाम होते हुए भारतीय प्रान्तों में विचरते ब्रह्मा एवं रगून तक चले गये। उस समय इनमें आश्चर्यजनक मस्ती थी। भूख प्यास थकावट का तो इन्हें भान ही न होता था और रात-दिन का भेद भुलाकर आप बराबर घूमते ही रहते थे।

एक बार आप दक्षिण प्रान्त अकोला मुर्तिजापुर की ओर विचर रहे थे। वहाँ स्वामी जी के विभूति विभूषित दिगम्बर बालयती शरीर को देख कुछ लोगों ने इन्हें पकड़ लिया। साथ ही एक निराली पद्धति द्वारा पूजा की सामग्री तैयार की जिसमे जल मिश्रित दुग्ध के अनेकों घड़े थे, चन्दन तथा पुष्पमालाओं की मात्रा भी मानवीय पूजा की मर्यादा से बाहर हो गई थी। उन लोगों ने श्रीस्वामी जी को एक चौकी पर बैठाकर विशेष-प्रकार से मंत्रोच्चारण करते हुए विधिवत कितने ही दुग्ध कलशों में चन्दन पुष्प चढ़ाकर स्नान कराया। यह पूजा क्या थी मानो स्वामी जी के सहिष्णुता रूप तपोबल की अग्नि परीक्षा ही थी। किन्तु स्वामी जी के लिये तो यह स्नान भी एक कौतुक पूर्ण स्नान था। इस प्रकार स्वामी जी के अलौकिक तपोबल को देख उधर के गण्यमान्य नागरिक व्यक्ति भी अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ लोग दूर-दूर से स्वामी जी का पता लगाकर दर्शनार्थ भी आने लगे।

स्वामी जी की विशेष ख्याति, प्रयागराज और कानपुर के बीच भ्रमण करते हुए जि० फतेहपुर रियासत असोथर मे बारह वर्ष मौन रहकर तप करते हुए बढ़ती गई। इसी जिले में स्वामी मगनानन्द नामक अच्छे सिद्ध महात्मा पुरुष थे। उन्होंने अपनी भौतिक लीला समाप्त करने के कुछ दिन पूर्व ही अपने शिष्यों को

एक आश्चर्य जनक शुभ-सूचना सुनाई। उन्होंने कहा—"पजाब के दो महात्मा कुछ दिन बाद यहाँ आने वाले हैं। मेरे शरीर के न रहने पर तुम लोग उन्हीं दोनां महात्माओ का समागम करना और मेरे थान में उन्हीं को मानते रहना।" श्रीमहात्मा मगना-नन्द जी की सूचनानुसार कुछ दिन में यही श्रीस्वामीजी महाराज एक दूसरे सन्त के साथ इस ओर पधारे इनके साथ जो दूसरे सन्त थे उन्होंने गगा किनारे एक ही स्थान पर आजीवन निवास करते हुए भौतिक लीला समाप्त की। हमारे स्वामी जी महाराज विचरते हुए असोथर ग्राम में रहकर विशेप प्रकार से तप करने लगे अत. इस प्रान्त मे चारों ओर प्रसिद्ध हो गये। इसके पूर्व ये सन्त जहाँ कहीं रहे वहाँ गुप्त ही रहे और जिस प्रान्त से चले आए वहाँ फिर लौट कर नहीं गए। एक वयोवृद्ध सन्त के द्वारा विदित हुआ कि अपने इस जीवन का लगभग अर्ध भाग इन परमहंस जी ने अयोध्या में तप करते हुए बिताया इसका हम लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं है।

बाल विरागी परमात्मानुरागी सन्त नागा निरंकारीजी ने असोथर के जगलों में अनेक वर्ष उग्र तपस्या की। श्री स्वामीजी महाराज को प्रथम तो असोथर निवासियों ने पागल समझकर इनकी उपेक्षा की। किसी-किसी ने तो इनके दिगम्बर स्वरूप को देख अत्यन्त भर्त्सना भी की परन्तु कुछ दिन बाद लोग इन्हे समझने का प्रयत्न करने लगे।

सबसे प्रथम एक साधारण गरीब ठाकुर जिनका नाम श्री शिवमगल सिंह था बड़ी श्रद्धा से स्वामी जी से मिले और आपको अवधूत सन्त रूप में पहिचान सेवा करने लगे। इन दिनों स्वामीजी मौन रहा करते थे। बालकों के साथ खेला करते और ध्यानस्थ रहते एव जब कोई लड़का न मिलता तब जंगल

में पड़े रहते थे। कुछ दिनो स्वामी जी ने जलशयन भी किया। उस जंगल में प्राचीन काल का बना हुआ एक भूघरा था। स्वामी जी ने भक्तों के सहयोग से उसके कंटकाकीर्ण द्वार को धीरे-धीरे साफ कर लिया और उसी स्थान को अपने तीव्रतप का केन्द्र बनाया।

स्वामी जी दिन को तो जंगल में किसी झाड़ी के नीचे पड़े रहते थे। आज यहाँ तो कल वहाँ, कोई निश्चित स्थान न था। वहीं वह क्षत्रिय-भक्त स्वामी जी के लिये भोजन लेकर जाता, कभी स्वामीजी शीघ्र ही खोजने पर मिल जाते और कभी-कभी खोजते-खोजते दोपहर हो जाती, संध्या हो जाती। अन्त में विचारा घर लौट आता था। उस भक्त का यह नियम था कि स्वामी जी को भोजन बिना कराये स्वयं भी भोजन नहीं करता था। इधर स्वामी जी ने भी ऐसा नियम बना लिया था कि दिन भर चाहे जहाँ रहते परन्तु सायंकाल को उस भूघरा में अवश्य आ जाते थे। जब यह भक्त रात को फिर भोजन लेकर जाता तब स्वामीजी भोजन पाते थे। जाड़ों के दिनो में तो कुछ विशेष कष्ट न होता था किंतु ग्रीष्म (गर्मियो) के दिनों में जब स्वामी जी दिन में न मिलते थे तब वे सारे दिन प्यासे ही रहते थे और फिर सायकाल को जब पानी मिलता तब बहुत अधिक पानी पी जाते थे।

वह जीर्ण भूघरा अत्यन्त प्राचीन था। उसमें सॉप-बिच्छू आदि जीव निकलते थे और स्वामी जी उन्हें पकड़-पकड़ कर बाहर फेंक देते थे। इस प्रकार कुछ दिनों में वह स्थान स्वच्छ और रहने योग्य हो गया। स्वामी जी उसी स्थान में रहकर तप करते हुए नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त हुए।

स्वामी जी में शारीरिक तप एवं वाणी का तप जैसा उन्नतम और पूर्ण था वैसा ही उनके मन का तप भी पराकाष्ठा में पहुँचा

हुआ था। वे प्रत्येक परिस्थित में सदैव शान्त समस्थित रहते थे। उनके मन में कहीं भी अधीरता, आतुरता, उद्वेग-क्रोध एव उत्तेजना दिखाई ही न पड़ती थी। सारांश, ये सर्वाङ्ग निर्विकार थे। एकान्त सेवी ऐसे थे कि नाम रूप मय जगत की अनेकता से ऊपर उठकर नित्य अद्वत एक चिन्मात्र स्वरूप में स्थित थे। यह सत्य ही है जो कुल का त्याग करता है वही सर्वाधार सर्वोपरि पदक प्राप्त करता है।

ये सन्त ऐसे विचित्र तपस्वी थे कि अपने लिये किसी से भी कुछ न मागने का दृढ़ व्रत सा ले रक्खा था तभी तो इन्हे देखकर देवताओं के भी हृदय हिल जाते थे।

सन्त की विचित्र रहनी

'वास्तव में उच्चकोटि के सन्तों की सत्यानुभूति एक सी ही होती है परन्तु प्रत्येक सन्त की रहनी में कुछ अपना वैशिष्ट्य होता है। सन्तों की बातों का कहीं-कहीं पर अर्थ समझना कठिन होता है। जो सन्त जिस देश में जिस परिस्थिति मे प्रगट हुये हैं जैसी शिक्षा-दीक्षा में पले हैं प्रायः उसी के अनुसार उनका स्वभाव होता है। कोई अत्यन्त एकांत सेवी मौन होते हैं, कोई अनेकों प्रकार के लोगों मे रहकर उनकी सहायता करते धर्मोपदेश देते रहते हैं, कोई कर्मयोगी कोई भक्तियोगी कोई ज्ञानयोगी होते हैं। कुछ सन्त ऐसे होते हैं जिनके बाह्य आचरण बाल, जड़, उन्मत्तवत् होते है ऐसे लोग प्रायः शिक्षा नहीं देते फिर भी इनकी उपस्थिति मात्र से संसार का हित होता रहता है, गुप्त रूप से संसार के बहुत ऊँचे स्तर में काम करते रहते है। बहुत सत अपने को प्रगट नहीं करते।

सन्त साम्राज्य में भी अनेक उत्तरोत्तर स्थान है उनके अधिकारी हैं अपनी अपनी शक्ति के अनुसार ही भिन्न भिन्न स्तरों मे सन्तों का अपना अपना अधिकार है।

हमारे परम हस जी की रहनी बहुत ही विचित्र थी। बहुत दिनों तक इन्हे लोग पागल ही समझते रहे किन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो इनकी उग्र तपस्या, अद्भुत तितिक्षा अर्थात् कष्ट सहिष्णुता को देखकर महापुरुष होने का भी अनुमान करने लगे और दर्शनार्थ आने लगे।'

सन्त के निकट आने पर ही उनकी महत्ता प्रगट होती है। ये सन्त वस्त्र तो रखते न थे लेकिन धूनी हर समय जला करती

थी। आने वाले प्रेमियों को चलते समय धूनी की राख ही प्रसाद रूप में प्रसन्न होकर दिया करते थे। जब लोगों को यह मालूम हुआ कि धूनी राख से ही दो चार रोगियों के रोग दूर हो गए तव तो इनके पास आर्त और अर्थार्थी लोगों की भीड़ें आने लगीं। ये सन्त वालकों से अत्यधिक स्नेह करते थे उनके साथ ही खेलते रहते। उस समय बारह वर्ष मौन के बाद जब बोले तव वही शब्द बोलते थे जो कि सुनते थे, अपनी ओर से कोई वाक्य न कहते थे इसी कारण से यह वालकों के लिए तो एक विचित्र आमोद विनोद की निधि बन गए थे। जैसे जैसे समय वीतता गया स्वामी जी की ख्याति बढ़ती गई। दूर दूर के लोग दर्शन को आने लगे और वालकों के ही सहारे अपने अपने स्थानों में ले जाने लगे।

ये सन्त जहाँ कहीं जाते वहाँ के वालकों में ही खेलते, उन्हीं के साथ घरों में जाते, जो कोई खाने पीने की वस्तुयें देता तो वालकों के साथ ही मिल कर खाते न एकाकी खाते न पहिले खाते। कोई रात को जहाँ लिटा दे वहीं लेट जाते, नग्न तो थे ही कोई कम्बल उढ़ा देता तो मना न करते और करवट लेने पर कम्बल गिर जाता तो उठाकर फिर अपने हाथ से न ओढ़ते थे। कोई कुरता पहिना देता तो पहन लेते और अपने हाथ से उसे न उतारते थे, यदि कोई दूसरा उतारता तो फिर दुबारा पहनने का प्रश्न ही न होता था आप तो खेलते कूदते कहाँ से कहाँ हो जाते थे।

स्वामी जी की प्रत्येक चेष्टा में एक विशेष प्रकार का कुतूहल था। प्राय अपरिचित व्यक्ति तो यदि स्वामी जी से स्वयं कुछ पूछना चाहता था तो वह भ्रम में ही पड जाता था। एक बार मार्ग में एक थानेदार साहब कहीं से आ रहे थे। इस ओर

स्वामी जी भी बालकों सहित खेलते कूदते आ निकले। थानेदार इनके दिगम्बर वेष से चकित होकर इनसे पूछने लगे।

थानेदार—तुम इस तरह नंगे क्यों घूमते हो?

स्वामीजी—तुम इस तरह नंगे क्यों घूमते हो?

थानेदार—ठीक तरह जवाब दो।

स्वामीजी—ठीक तरह जवाब दो।

थानेदार—मालूम होता है, पागल है।

स्वामीजी—मालूम होता है, पागल है।

थानेदार—अभी हवालात में बन्द कर देंगे।

स्वामीजी—अभी हवालात में बन्द कर देंगे।

इस प्रकार ध्वनि की प्रतिध्वनि रूप में थानेदार से वार्त्तालाप हो ही रही थी कि बस्ती के कुछ परिचित व्यक्ति आ निकले जो स्वामी जी को जानते थे। उन्होंने थानेदार को समझाया कि "आप इनसे बात न कीजिये, यह महात्मा पुरुष हैं।" तब थानेदार को सन्तोष हुआ और वह बन्दगी करके चला गया। इसी प्रकार असोथर के थानेदार को भी भ्रम हो गया था। उसने तो चिढ़ कर सिपाहियों द्वारा स्वामी जी को हवालात में बन्द भी कर दिया था। स्वामीजी प्रसन्न चित्त हवालात में बन्द होकर अपने ध्यान में मग्न हो गये। रात को बीच-बीच में स्वामीजी 'अलख' शब्द का उच्चारण कर दिया करते थे। इस 'अलख' शब्द को रात में असोथर की रानी साहिबा ने अपने महल से सुना। वे श्री महाराज के शब्द पहिचानती थीं। उन्होंने जब पता लगवाया तो ज्ञात हुआ कि थानेदार ने स्वामी जी को हवालात में बन्द कर दिया है। रानी ने थानेदार को कड़ी धमकी दी और उसी समय श्रीस्वामी जी को हवालात से छुड़वा दिया। श्री स्वामी जी तो दोनों अवस्थाओं में एक रस थे। मानो थाने-

दार से कुछ संबंध ही न हुआ हो, इस प्रकार उदासीन ही रहे।' इस घटना की कोई चर्चा ही न चली, परन्तु किसी अदृश्य शक्ति से सन्त का यह अभिमान पूर्वक अपमान न सहा गया। फलत वह थानेदार सदा के लिये नौकरी से हटा दिया गया। और भी एक दो ऐसी दुखद घटनाएँ घटी जिनका उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह विक्षिप्त (पागल) होकर न मालूम कितने दिनो तक दु ख भोगता रहा।

प्रेमी पाठक कहीं यह अनुमान न कर बैठें कि स्वामी जी ने उसे कुछ शाप दे दिया होगा। वास्तव में स्वामीजी के हृदय में तो इतनी दया थी कि वे किसी दुखी को रोते देख कर स्वयं ही रो पड़ते थे। अनेक वार स्वामी जी का अपने निन्दकों से सामना पड़ा। जहाँ सहस्रों नर नारी श्री स्वामीजी के पूर्ण श्रद्धालु और उनकी स्तुति पूजा करने वाले थे, वहाँ कोई कोई उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाले भी थे। परन्तु स्वामी जी के जीवन में कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि कभी उन्होंने उन ईर्ष्यालु एव अपने निन्दकों का कोई अनिष्ट चाहा हो या उनसे वदला लेने की इच्छा की हो। श्री स्वामीजी महाराज तो जब कभी कथा-वार्ता मे भी किसी को शाप देने की बात सुनते तो अत्यन्त खिन्न हो जाया करते थे और करुणा की कसक भरी वेदना से पूर्ण शब्दो मे कहा करते थे कि "जिसमें शक्ति हो वह किसी को शाप न देकर यदि कुछ देना ही चाहे तो किसी दुःखी को वरदान एव शुभाशीर्वाद ही देवे तो कितना सुन्दर हो।"

श्री स्वामी जी कभी किसी पर रुष्ट तो होते ही न थे। वरन् समय-समय पर ऐसा भी देखा गया कि उनके समीप रहनेवाले व्यक्ति उनकी उत्कृष्ट सहिष्णुता एव सरलता और उच्चतम निष्काम प्यार का उपयोग अपनी साधारण छोटी-छोटी सी

इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये करते हुए अपनी चुद्र-प्रकृति का परिचय दिया करते थे। परन्तु हमारे दयावतार स्वामी जी ऐसे व्यक्तियों को रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव से बद्ध जानकर बराबर क्षमा प्रदान ही करते रहते थे। उनका कहना था कि "सब परमात्मा के जीव हैं किसी पर कोप न करके दया ही करना चाहिये। सब जीव अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख दुःख भोगते हुए गति पाते हैं। भूमि पर चलनेवाला प्राणी एक दम आकाश में कैसे उड़ सकता है, सब की धीरे-धीरे ही उन्नति होती है। सब जीवों का परमात्मा देखता है, वही सबका मालिक है। हम अपनी ओर से किसी जीव को भी न सताना चाहिये।"

स्वामी जी की वाणी में कभी भी कटुता एवं कर्कशता न देख पड़ी। उनमें तो सरलता, सौम्यता, नित्य-प्रसन्नता मूर्तिमान सी होकर विराजती और सब को अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी।

एक बार इन्हें एक मियाँ मिल गये। वे फकीरों के भक्त थे— इनको देखकर कामिल फकीर समझ कर कहा, शाह साहब मेरे घर चलिए तो आप भी कहने लगे, शाह साहब मेरे घर चलिए। मियाँ ने अपनी बातों को दुहराते देख और आश्चर्य विस्मय से फिर पूछा चलोगे ? उत्तर में चलोगे, मियां तो चलो ? स्वामीजी तो चलो ? मियां चल पड़े, पीछे पीछे परमहंस जी भी चल पड़े। घर के आँगन में नङ्ग-धड़ङ्ग ले जाकर खड़ा कर दिया। बीबी जी देख कर हैरान हो गईं, कहने लगीं ये कहाँ का पागल सरीखा आदमी पकड़ लाए हो। मियाँ ने कहा अरे ये बहुत ऊँचे दर्जे के फकीर हैं इन्हें कुछ खाना तो खिला दो। बीबी बेचारी मियाँ की आज्ञानुसार एक थाल में कुछ अपना खाना ले आई। मियां जब बैठे थे तब स्वामी जी भी बैठ गये थे। मियाँ

थाल लेने उठे तो स्वामी जी भी उठ कर खड़े हो गये। मियाँ ने अपने हाथ में थाल लेकर कहा, 'लो बाबा खाना खा लो।' स्वामीजी भी हाथ फैलाकर थाल पकड़कर कहने लगे, 'लो बाबा खाना खा लो।' मियाँ जी ने स्वामी जी को थाल पकड़ा देखकर थाल छोड दिया। इधर स्वामी जी ने भी उसी स्थान से तत्क्षण थाल से हाथ हटा लिये। थाल जमीन पर तड़ाक से गिर पड़ा। चपाती साग दाल सब बिखर गई। बीबी तो घबराई हुई थी ही यह काण्ड देख कर और भी घबरा गई और मियां से बोलीं, आप भी कहाँ का नङ्गा पागल पकड़ लाये हो भगाओ। इससे मिया बेचारे ने परेशान होकर कहा बाबा चलो तो आप भी कहने लगे बाबा चलो। मियाँ जब बाहर को चले तो स्वामी जी भी चल पड़े बाहर आकर स्वामी जी को छोड़ दिया। मियाँ दरवाजा बन्द कर घर में चले गये इधर स्वामी जी भी जिधर मुँह था उधर ही चल पड़े।

यह विचित्र प्रकार का ध्यान था। ऐसा भास होता था कि ये सन्त आनन्द स्वरूप की उपासना में तल्लीन हैं अपना कोई सकल्प न था कोई इच्छा न थी खिलवाड़ के बीच में निस्सं-कल्पता और निष्कामता का अभ्यास दृढ़ हो रहा था। सुनते हुये अपनी इच्छा से कुछ न सुनते थे, देखते हुये अपने लिये कुछ न देखते थे, नाना प्रकार की क्रियायें करते हुये भी अपने लिये कुछ न करते थे, जो कुछ देखना सुनना करना था निष्काम था और सब कुछ आनन्दमय था, चारों ओर आनन्द ही आनन्द का वातावरण बना रहता था। केवल उतनी ही देर बाह्य प्रकृतिस्थ होते थे, जब किसी दुखी को या रोगी को देखते थे और उसे अपने तपोबल से दूर कर देते थे।

धीरे-धीरे असोथर नगर के एक श्वपच से लेकर कुलीन ब्राह्मण तक, महानिर्धन से लेकर धनवान तक सारी प्रजा एव

राजा रानी सभी श्री स्वामी जी के प्रति श्रद्धा करने लगे, और अनेकों अपने-अपने घरों को पवित्र करने के भाव से बालकों सहित श्री स्वामी जी को घर ले जाते, भोग लगाने के लिये दूध मिठाई जैसी जिसको सुविधा होती प्रसाद निवेदित करते।

स्वामी जी प्रथम तो सब बालकों को बाँटते पुनः स्वयं दुग्ध-पान कर लेते। जिस किसी भी ग्राम में जाते यही नियम चालू रहता। यह भी एक आश्चर्य की बात थी कि कभी-कभी ये एक दिन में पाँच-सात घरों में ही नहीं वरन् बीस, तीस, चालीस घरों में भी जाते थे और सभी के यहाँ दूध पीते थे और वह दुग्धपान मानवीय मर्यादा से बाहर हो जाता फिर भी उनके लिये कोई विशेष बात न होती थी।

असोथर में एक बार कुँवर चद्र भूषणसिंह जी ने स्वामीजी को बुलाया और इस कामना से बुलाया कि श्री स्वामी जी उसी प्रकार उनकी सेवा स्वीकार करें तथा उन पर भी उसी प्रकार प्रसन्न हो कृपा करें जिस प्रकार ग़रीब भक्त बचना की सेवा स्वीकार करते और कृपा करते हैं। उन्होंने स्वामी जी के नग्न शरीर पर एक दुशाला उढ़ा दिया। कुछ द्रव्य आदि भेंट करने का तो अवसर ही न था। क्योंकि इन दिगम्बर देवता के पास तो रखने बाँधने के लिये एक चिट भी न थी। स्वामी जी उस दुशाले को ओढ़े हुए बालकों सहित अपने रात्रि काल के एकान्त आसन पर चले आये। वहाँ धूनी अवश्य रहती थी। दुशाला कंधे पर पड़ा था। धूनी के पास बैठते ही दुशाला खिसककर धूनी के समीप आगिरा। एक अवधूत सन्त उस गिरे हुए बहु-मूल्य दुशाले को फिर उठा कर अपने कंधे पर रक्खें—यह उनकी विरक्ति के विरुद्ध चेष्टा सिद्ध होती। जिनकी दृष्टि में देह का ही जब कुछ महत्व नहीं; जो शीत, उष्ण, मान अपमान की वेदनाओं

में समस्थित रह कर सदा अपने चिन्मात्र स्वरूप में समाधिस्थ रहते हैं वे योगिराज दुशाले जैसी पार्थिव वस्तु से क्यों मोह करेंगे ? स्वामी जी ने तत्काल ही उस दुशाले को कुछ और आगे बढ़ाकर जलती हुई अग्नि में आहुति दे दी और वह जलकर भस्म हो गया।

किसी भी वस्तु में आवश्यकतानुसार ही आसक्ति हुआ करती है। तत्त्व ज्ञानी पुरुष ससार की किसी भी वस्तु में इसलिये ही आसक्त नही रहते, क्योंकि वे अपने लिये उसकी आवश्यकता नहीं समझते। किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति में मनुष्य जितना ही अधिक सुख मानता हे उतना ही अधिक वह वस्तु या व्यक्ति उसे मूल्यवान् दीखती है। किंतु जिसे ससार की किसी वस्तु या व्यक्ति में सुख दीखता ही नहीं प्रत्युत सुख का मिथ्या आभास प्रतीत होता है वह भला सासारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति क्यों आकृष्ट होगा, ऐसी मनस्थिति में।

बाल विरागी पूर्ण त्यागी श्री परमहंसजी शाल अथवा अन्य किसी सासारिक वस्तु को भला क्यों महत्व देंगे जब कि उन्हें संसार का सभी नाम-रूप मिथ्या—अर्थात् प्रतिक्षण बदलने वाला दीख रहा है। जिनकी ज्ञान दृष्टि से ससार का सभी कुछ जलता, नष्ट होता प्रतीत होता है क्यों न वे इस ससार से उदासीन होकर रहेगे ? माया तथा मान की मोहकता ऐसे वीतरागी परमत्यागी सन्त को कैसे आकर्षित कर सकती है ?

श्री स्वामी जी महाराज को वह वस्तु इतनी तुच्छ दिखी कि उन्होंने उसे तुरन्त ही अग्नि में झोंक दिया। इधर कुँवर साहब ने जब अपने दिये हुए शाल की भस्म क्रिया का समाचार सुना तब उन्हे खेद एवं पश्चाताप हुआ और इसके साथ ही उनकी श्रद्धा-सेवा की गति भी वहीं समाप्त हो गई।

श्री स्वामी जी महाराज यदि कभी कुछ किसी का दिया हुआ स्वीकार करते भी थे तो केवल निर्वाहमात्र स्वल्पाहार ही। वह भी अयाचित रूप से अनायास प्राप्त हो जाय तो! इन सन्त जी ने याचना तो कभी किसी से की ही नहीं। जब तक कोई प्रेमी स्वय भोजन का प्रश्न न उठाता तब तक आप भोजन विषयक कोई संकेत भी न करते थे। इन पंक्तियों के लेखक को कुछ समय तक गुरुदेव के साथ भ्रमण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस भ्रमण काल में लेखक ने देखा यह वीतरागी सन्त सदैव ग्राम-बस्ती से दूर एकान्त मे ही ठहरते थे। जब उस एकांत विश्राम स्थान में आकर कोई प्रेमी भक्त भोजन का प्रश्न उठाता तब आप उसे भोजन की स्वीकृति दिया करते थे। साथ ही साथ हम लोगों को भी यही शिक्षा देते थे कि "किसी से भी कुछ न मांगो। जो तुम्हारी-प्रारब्ध का होगा वह स्वत. ही आजायगा।"

श्री स्वामी जी महाराज अन्य सन्त महात्माओं की भाँति अधिक उपदेश, व्याख्यान आदि कुछ न देते थे। यदि कोई कुछ प्रश्न करता तो संक्षेप में ही एक दो वाक्य ऐसे भाव से कह देते कि प्रश्नकर्ता को पूर्ण सन्तोष हो जाया करता था। जिज्ञासु को अधिक पूछने की इच्छा ही न रह जाती थी। इनकी समीपता में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी कुछ अनिर्वचनीय शान्ति प्रतीत होती थी कि प्रायः सभी प्रश्न, तर्क एव शंकाएँ न जाने कहाँ विलीन हो जाती थीं। श्री स्वामीजी के आस-पास ऐसी शान्ति छाई रहती थी कि इनके समीप पहुँचते ही प्रत्येक दर्शनार्थी श्रद्धालु की अशान्ति दूर हो जाती थी। यह देखकर आश्चर्य होता था कि अच्छे-अच्छे ग्रेजुएट बाबू, एवं उच्चपदाधिकारी विद्वान लोग श्री स्वामीजी के चरणों के समीप बैठने मात्र की अभिलाषा लेकर आते थे और घंटों बैठे रहते एवं अपने हृदय

में ऐसा अनुभव करते हुए लोटते थे कि "हमे अवर्णनीय अदृश्य शक्ति मिली है, हम खाली आये थे और अब भरे हुए से जा रहे हैं।" इस प्रकार प्राय. अनेकों श्रद्धालु दर्शकों का अनुभव सुना गया।

एक बार ये सन्त उत्तर प्रदेशीय फतेहपुर नगर में एक प्रेमी भक्त के घर मे ही तीन चार वर्ष रह गए। सन्त की मौज ही तो है—कहाँ तो वीहड वनों में एकाकी निवास का पक्ष और कहाँ शहर के बीच में अनेकों व्यक्तियों से भरे हुए परिवार के साथ वर्षों रहने की सहिष्णुता—दोनों विरोधी बातें हैं। इस दीर्घ कालीन अन्तर्गृहवास के कारण परमहस जी का शरीर अत्यन्त स्थूल हो गया था, कब तक ध्यान न जाता। यद्यपि इस प्रकार उस घर में ही तीन चार वर्ष रह जाने का विशेष कारण था, ये सन्त उस परिवार में एक बड़े अभाव की पूर्ति करना चाहते थे। उस भक्त के पुण्य बढ़ाने के लिये ही ये घर में ठहरे थे परन्तु इतने अधिक दिन वहाँ पर सन्त के तप ध्यान करने पर भी अभीष्ट ध्येय की सिद्धि न हो सकी। कर्म से कर्म काटने का प्रयत्न निष्फल हुआ। तब सन्त ने अपना सकल्प बदल दिया और एक दिन घर से निकल कर सीधे हिमालय यात्रा के लिये चल पड़े। चार वर्ष एक स्थान में रुकने का इससे अधिक प्रायश्चित और क्या हो सकता था। दूसरा कोई व्यक्ति इतना स्थूल शरीर लेकर पहाड़ की चढ़ाई कर ही न सकता था परन्तु ये सन्त तो अपने तन मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किये हुये थे इनके लिये कोई कठिन बात ही न थी।

इन योगिराज ने हिमालय की चढ़ाई की और बदरीनारायण पहुँचकर चैन लिया। पसीना निकाल निकालकर स्थूलता का आधा भाग तो पचा ही डाला। मार्ग में एक ब्रह्मचारी मिले, स्वामी

जी की भव्य मोहक मूर्ति के दर्शन से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ बात-चीत करने पर जब स्वामी जी को यह ज्ञात हुआ कि यह ब्रह्मचारी जी कुछ आयुर्वेद शास्त्र का भी ज्ञान रखते हैं तब अपने बड़े भारी पेट में रोग होने की आशंका करते हुए स्वामी जी ने उन्हे पेट देखने की प्रेरणा की। ब्रह्मचारी जी ने देखा और अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर कहा—"महाराज, आप चलते-फिरते कैसे हैं? आप के उदर में यकृत इतना बढ़ गया है कि यदि आप की अवस्था में कोई दूसरा होता तो उसे हिलना डुलना भी दुष्कर होता," ब्रह्मचारी की बात सुन कर स्वामी जी तो हँसकर मौन हो गये परन्तु ब्रह्मचारी जी ने किसी अन्य मनुष्य से यह कहा कि यह महात्मा अब छः मास से अधिक नहीं जी सकते। इस कथन को साथ में रहने वाले शिष्य ने सुनकर ध्यान न दिया। योगियों की सामर्थ्य को भला सर्व साधारण व्यक्ति क्य समर्झे—यह सोच कर ही वह शिष्य मौन रह गए।

स्वामी जी श्री बदरीनारायण की यात्रा करते हुए एक दिन सन्ध्या समय एक चट्टी (विश्रामशाला) में ठहरे हुए थे। स्वामी जी के साथ त्यागी जी नाम के एक शिष्य थे उन्होने देखा कि ध्यानस्थ हुए श्री स्वामी जी की ओर साँप की तरह लम्बा तेजोमय प्रकाश तीव्र गति से आकर स्वामी जी के पास विलीन हो गया।

इस अद्भुत दृश्य को देख शिष्य का चित्त कुछ विस्मित एव चिन्तित हो उठा। ध्यानोपरान्त श्री स्वामी जी ने शिष्य की ओर देखा और पूछा क्या है? शिष्य ने भी जो देखा था, कह दिया। शिष्य को अब भी उस तेजोमय सर्प के आसन के नीचे घुस कर बैठ जाने का सदेह था। स्वामी जी आसन से उठ खड़े हुए और उन्होंने शिष्य को आसन देख लेने की आज्ञा दी। परन्तु

आसन झाड़ने पर वहाँ कुछ न निकला । स्वामी जी हँसकर फिर बैठ गये । किसी समय उन्होंने बताया श्री बदरीनारायण तेजोमय रूप में उन्हे दर्शन देने आये थे ।

उसी समय संक्षेप में श्री बदरीनारायण जी के महान् तप की कथा भी स्वामी जी ने सुनाई । अपनी हिमालय यात्रा समाप्त कर श्रीस्वामी जी महाराज उत्तर प्रदेश के अनेकों ग्रामों मे विचरते एव अपने नाम को कहीं न बतलाते हुए जिला हमीरपुर के सिसोलर ग्राम में पहुँचे ।

इससे कई वर्ष पूर्व भी इस ग्राम में स्वामी जी आ चुके थे । जिन बालकों के साथ आप खेल चुके थे उनमें से कुछ लोगो ने ही बहुत कुछ मनोयोग देने पर आपको पहिचान पाया । इसी ग्राम मे प्रताप सिंह नामक एक जमींदार श्रद्धालु एव सन्त सेवी व्यक्ति थे । पहिले भी यह स्वामी जी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे किन्तु उन्होंने भी चिरकाल तक दर्शन न हो सकने के कारण स्वामीजी को न पहिचान पाया । स्वामी जी ने किसी की ओर न देखा और न कुछ पूछा, केवल मार्ग से ही दो लड़को को साथ ले लिया और उन्हीं के कधों पर हाथ रक्खे सीधे प्रतापसिंह के घर में घुसे ही चले गये । सभी लोगों को इस प्रकार बिना पूँछ-ताँछ के इन्हें घर में घुसते देख आश्चर्य हुआ । एक संन्यासीजी ने (जो कि उस समय वहाँ बैठे हुए थे), स्वामी जी के नेत्रों की ओर देखा तथा इनकी निर्भीकता का अनुभव कर पहिचान लिया कि यह कोई अवधूत स्थिति मे पहुँचे हुए सन्त हैं । उधर प्रताप सिंह को भी तुरन्त ध्यान आ गया कि इस प्रकार निर्भयतापूर्वक घर की महिलाओं में चले जाने का साहस करने वाले श्री नागा बाबा जी ही हो सकते हैं । इतना स्मरण आते ही उन्हें पूर्व मूर्ति के आधार पर वर्तमान

की तुलना के लिये सब कुछ मिल गया। वे तुरन्त भीतर दौड़ गये और स्वामी जी को प्रणाम किया। उनकी धर्मपत्नी भी सन्त सेविका परम श्रद्धालु महिला थी। अचानक अपरिचित सन्त रूप को देखकर पहिले तो कुछ सकोच मे पड गई परन्तु श्री स्वामी जी की दृष्टि में कुछ ऐसा अद्‌भुत प्रेमाकर्षण था, पवित्र भावना का ऐसा तेजोबल था कि कोई भी इन्हे देखकर सरलता-पूर्वक मुग्ध हो जाता था। भय तथा शंका का फिर कहीं प्रवेश ही न हो पाता था। जब तक प्रतापसिंह जी भीतर ड्योढ़ी में पहुँचे तब तक यहाँ स्वामी जी को आसन पर बिठलाने आदि का सब प्रबन्ध हो चुका था। प्रतापसिंह जी ने स्वामी जी को अच्छी तरह पहिचान लिया और सब लोगों को सावधान करते हुए कहा कि 'अरे भाई यह तो वही नागा बाबा है जो पहिले एक बार यहाँ आ चुके है।' फिर क्या था श्रीस्वामी जी के शुभागमन का समाचार सुगन्ध की भाँति सारे ग्राम में फैल गया। जिसने जिस अवस्था में श्री परमहंस जी के आने की आवाज़ सुनी वह वैसा ही दौड़ पड़ा। कुछ देर मे ही आदमियों की भीड़ लग गई कुछ लोग दर्शन करने आ रहे थे कुछ लोग दर्शन से तृप्ति लाभ कर कार्य वश अपने अपने घरों को श्रीनागा जी के शुभागमन की एक दूसरे को सूचना देते हुए लौट रहे थे। फलस्वरूप एक ग्राम से दूसरे, दूसरे से तीसरे ग्राम में आँधी की तरह चतुर्मुखी गति से यह समाचार फैलता चला गया कि "एक बड़े प्राचीन महात्मा आये हैं जो बड़े सिद्ध पुरुष है।"

आज के ससार में आर्त और अर्थार्थी भक्तों की ही अधिकता है। दूसरे ही दिन से बाहर के ग्रामों की भीड़ आने लगी। केवल प्रथम दिन ही लोगों ने श्री स्वामी जी के श्रीमुख से निकले शब्द सुने, बाद को ऐसा अवसर न मिल सका क्योंकि दूसरे

दिन से ही स्वामी जी ने उस उमड़ती हुई जनता की भीड़ को देख मौन धारण कर लिया था। कारण दर्शकों की उस अपार भीड़ में यदि कुछ लोग केवल दर्शन करने आते थे तो उनमें अधिकाश नर-नारी इस आशा से अपने-अपने दुःखों को प्रगट करते थे कि सन्त दुआ देंगे विभूति दे देंगे तो भला हो जायगा। स्वामी जी भी सबको विभूति बाँटते ही थे। श्रद्धालु लोग उसे लेकर परम सन्तोष प्राप्त करते थे और अधिकतर उस विभूति से लाभ भी उठाते थे। कभी-कभी कुछ लोगों को इस लेखक से औषधि लिखवा दिया करते थे। इस प्रकार उत्तरोत्तर भीड़ बढ़ती ही गई। अनेक प्रकार के रोगी दूर-दूर से आने लगे। कुछ रोगियों को तो तत्काल ही विभूति मिलने से लाभ हो जाता था। कुछ भूत प्रेत की बाधा वाले आये और स्वामी जी के सन्मुख आते ही रोये-चिल्लाये तथा उसी क्षण शान्त और स्वस्थ हो गये। उनके सिर से भूत का नशा सदा के लिये उतर गया। इन्हीं सब घटनाओं से भीड और भी बढ़ती गई। एक दिन एक व्यक्ति स्वामी जी की विभूति लिये जा रहा था। मार्ग में एक सूखा हुआ पीपल का पेड़ मिला उसने थोड़ी सी विभूति उस पीपल के पेड़ पर यह कहते हुए डाल दी कि 'नागा बाबा की विभूति की करामात हम तब समझे जब यह सूखा पेड हरा हो जाय।' उसके साथ कई अन्य मनुष्य भी थे। दो तीन दिन बाद जब वे लोग पुनः स्वामी जी का दर्शन करने आ रहे थे मार्ग में पीपल को देख पिछली बात का ध्यान हो आया। उन लोगों को उस पीपल के वृक्ष में हरी पत्तियाँ देख अत्यन्त आश्चर्य हुआ। यद्यपि वे दो चार दिन में ही सभवतः सूख गई थीं परन्तु विभूति का चमत्कार उन लोगों को दीख गया।

एक भक्त ने अपने खारे कुएँ में इस आशा से विभूति डाल

दी कि इसका पानी मीठा हो जाय, उसके कुऐं का पानी भी मीठा पीने योग्य हो गया। एक दिन दर्शकों की भीड़ अधिक थी, प्रवन्धकों ने स्वामी जी को एक अध्यापक के घर में विश्राम करने के लिये विठा दिया। इधर पता लगने पर सैकड़ों नर नारी दर्शन की प्रतीक्षा में अधीर हो द्वार पर खड़े हुए थे। द्वार की जंजीर भीतर से बन्द थी। भीतर जो व्यक्ति स्वामी जी के साथ थे पूर्ण निश्चिन्त थे कि जंजीर तो लगी हुई है अब भला कौन अन्दर आ सकता है किन्तु आश्चर्य की बात है कि जंजीर अचानक अपने आप खुल गई। और दर्शक लोग अन्दर आकर स्वामी जी के दर्शन से परम सन्तुष्ट हुए।

इसी ग्राम में किसी हीन जाति का एक लड़का मियादी बुखार से पीड़ित था। बाईस या पचीस उपवास हो चुके थे। चिकित्सा होने पर भी कुछ लाभ प्रतीत न होता था। श्री स्वामी जी के पास नित नई भीड़ आती थी उनकी महिमा सुनकर उस लडके के पिता ने भी स्वामी जी से प्रार्थना की।

दर्शकों से अवकाश पाकर सध्या समय स्वामी जी उसे देखने गये। विभूति लगाई और वही पेड़े जो बालकों को प्रसाद में बांटते थे उनमें से एक पेड़ा उस लड़के को भी खिला दिया। बस उसी दिन उस बालक का ज्वर उतर गया। इस प्रकार नित्य ही कुछ न कुछ आश्चर्यजनक घटनायें देखने में आती रहती थीं। उन दिनों यह लेखक स्वामी जी के साथ ही था। स्वामी जी के साथ रहते हुए लेखक ने ऐसा दृश्य पहिले कभी न देखा था।

एक दिन रात को स्वामी जी से यह प्रश्न किया गया कि आप हिमालय से लौटकर मार्ग के अनेक ग्रामों में होकर आये तब तो कहीं आपके पीछे ऐसा कौतुक नहीं हुआ, यहां आते ही ऐसी लीला आपके साथ क्यों दिखाई दे रही है? 'इस प्रश्न का

स्वामी जी ने वड़ी गम्भीरता पूर्वक यह उत्तर दिया कि "इस समय हम परमात्मा के विराट रूप का ध्यान कर रहे हैं, इसी लिये यह जीवस्वरूपा शक्ति खिंचती चली आरही है। यह सब परमात्मा का ही तो अग है। अनेक नाम रूप में एक परमात्मा का ही वास है।" श्री स्वामीजी के इस प्रकार समझाने पर मेरी समझ में उन वातों का अर्थ आगया जो मैंने स्वामी जी के साथ मार्ग में कहीं-कहीं चलते समय देखी थीं।

वैसे ता स्वामी जी कही किधर से भी निकल जाते कोई भी वालक या वृद्ध उनसे नहीं वोलता और न स्वामी जी ही किसी की ओर दृष्टिपात करते थे। परन्तु किसी-किसी स्थान पर जब स्वामी जी को वालक दीख पडते थे तो ये स्वय खड़े होकर कुछ ऐसे ढग मे अपनी दृष्टि का भाव वदल देते थे कि स्वय बालक ही दूर से हर्ष ध्वनि करते, उछलते-कूदते, स्वामी जी के पास उसी तरह आजाते जिस तरह अपने किसी परम सुखद सम्बन्धी को देखने के लिये दौड़ पड़े हों। साथ ही स्वामी जी भी वालको के साथ ध्यान मग्न हो खेलने लग जाते। जब खेल समाप्त होता तव कहीं एकान्त में जाकर विश्राम करते।

सिसोलर ग्राम में तो यह लीला दिन पर दिन वढ़ती ही गई। यह सब लीलाएँ परम हस जी के सामने इसीलिये हो रही थी कि उन दिनों ये परमात्मा के विराट रूप का ध्यान कर रहे थे। विश्व रूप भगवान् को जो आत्म रूप से भजता है वही योग उत्तम है। उसमें जगत्कल्याण को अपूर्व सामर्थ्य आ जाती है। भगवान् ने ऐसे महात्मा को योगियों में श्रेष्ठ माना है। सिसोलर ग्राम मे श्रीस्वामी जी एक मास तक रहे। हिमालय यात्रा में चले जाने से चारों ओर के परिचित भक्तों को चिन्ता हो गई थी। इधर जब स्वामी जी के आने का समाचार सब को मिल गया तो

कानपूर, फतेहपुर, प्रयागराज आदि जिलों से भक्तगण इनके दर्शन के लिये यहीं पहुँचने लगे। वहीं पर पाली ग्राम की एक रईस महिला जो कि स्वामी जी की अनन्य भक्ता थीं स्वामी जी के दर्शनार्थ आईं। उन्होंने बड़ी दीनता एवं नम्रता पूर्वक स्वामी जी से पाली चलने की प्रार्थना की। श्री स्वामी जी को उनकी दशा पर दया आई और उनकी अनन्य श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर पाली जाने का निश्चय कर लिया। निदान, कुछ दिन पश्चात् सिसोलर से श्री स्वामी जी महाराज पाली पधारे।

श्री परमहंस जी की अन्तिम जीवन लीला का सर्वोपरि सम्बन्ध पाली से है। न जाने किस कर्म-संस्कार के भोग के लिए यहाँ भाग्यशाली आत्माओं का परस्पर अद्भुत सयोग संगठित हुआ। न ज़ाने कितने जन्मों के बिछुड़े हुए प्रेमी यहाँ जाति-पाँति, ऊँच-नीच तथा बड़े-छोटे के भेद भाव को भूलकर एवं एक प्राण एक हृदय-हो एकात्म भाव से मिले, एक प्रेम के सूत्र से बँधे और एक दिशा की ओर सभी मिलकर चले। आज भी सभी अपनी मति-गति से चलते ही जाते है। भगवान् ही जाने यह सब कहाँ पहुँचेंगे।

सन्त के अद्भुत कार्य

ससार ने समय-समय पर सन्त महापुरुषों को जन्म दिया है। मानव समाज के सञ्चित पुण्यों से सन्त-महात्मा साकार रूप से जन्म लेते हैं और समाज के पापों की अधिकता से ही क्रूर-कर्मी, दुष्ट दुर्जन पैदा होते हैं। भारतवर्ष में हम अपने धर्म संरक्षकों को अवतार कहते हैं। ऐसे महा-पुरुषों द्वारा ही दैवी गुणों का विस्तार, पुण्यों की रक्षा और पापों का नाश होता है। सन्त-सद्गुरु के आदर्श जीवन में इसी तरह के कार्य सम्पादित होते हैं जिनसे सद्धर्म सत्कर्म की संस्थापना होती है। हमारे लिये सन्त नागा जी महाराज ईश्वरीय गुणों के अर्थात् दैवी सम्पत्ति के एक अवतार हैं, इनसे मानव समाज को पापों से पुण्य की ओर, परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर, असत् से सत्य की ओर, विपयासक्ति से विरक्ति की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली है, प्रकाश मिला है। हमारे सन्त सद्गुरु उपनिपदों में वर्णित ब्रह्मविद् पूर्ण पुरुप हैं, इनसे ही हम सब को पूर्ण परात्पर परमानन्द तत्व का सन्देश मिला है, उससे योगस्थ होने का साधन मिला है। इनकी समीपता बड़े ही सौभाग्य का परिचय है, दैवी वरदान है।

परमहंस श्री नागा जी महाराज में अहगत सांसारिक सुखो-पभोगों की वासना-कामना तो थी ही नहीं, साथ ही महत्वाकांक्षा भी न थी जिसके प्रलोभन से विरले योगी ही बच पाते हैं। इसी-लिये स्वामी जी अपने तपोबल से संग्रहीत शक्ति द्वारा सदा दूसरों की सेवा सहायता ही करते रहे। अपने लिये तो आप केवल परम शान्ति ही चाहते थे और उस परम शान्ति द्वारा ही ये नित्य-तृप्त रहते थे।

यदि शक्ति का उपभोग में उपयोग न किया जाय तो साधारण शक्ति के द्वारा भी साधक असाधारण दैवी शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। जब दैवी शक्तियों के प्राप्त कर लेने पर भी साधक निष्काम बना रहता है तब वे दैवी शक्तियाँ ही सर्वाधार सर्व-शक्तिमान परमात्मा के पूर्णयोग मे सहायक होती है तथा साधक को सिद्ध बना देती हैं।

हमारे स्वामी जी इस सिद्धावस्था के ज्वलन्त उदाहरण है। स्वामीजी दैवी शक्तियों द्वारा कब सिद्धावस्था को प्राप्त हुए, यह हम नहीं समझ सकते क्योंकि हमने तो जब उनके दर्शन किये, सिद्धस्वरूप में ही किये।

श्री स्वामी जी का हृदय परमदयालु था। इनकी एक मात्र तरस यही थी कि संसार के सभी दुखी जीव सुखी हो जायें किन्तु कर्म रेख को कोई कहाँ तक मिटा सकता है। सन्त की इच्छा तो सबको सुखी देखने की होती है किन्तु सब की इच्छा तो सन्त की इच्छानुसार अर्थात् आज्ञानुसार चलने की नहीं होती, यही कारण है कि सब सुखी नहीं हो पाते।

यह पहले बताया जा चुका है कि न मालूम कितने वर्षों से परिभ्रमण करते हुए स्वामी जी ने असोथर नगरी की वन भूमि को अपने तपश्चरण का केन्द्र बनाया था। इस नगर में स्वामी जी की विशेष सेवा शिवमंगल सिंह नामक निर्धन व्यक्ति ने की थी। शिवमंगलसिंह निर्धन होने के साथ-साथ सन्तानहीन भी थे। संसारासक्त व्यक्ति प्रायः जब किसी को कुछ देते हैं तो बहुत कुछ पाने की इच्छा से ही देते हैं इसके विपरीत संसार से विरक्त पुरुष जब किसी से कुछ लेते हैं तो उसके बदले में बहुत कुछ देने के लिये लेते है। निष्काम होकर परम शान्ति प्राप्त करने की उत्कट लालसा रखने वाले तत्व ज्ञानी सभी व्यक्ति नहीं होते।

शिवमंगलसिंह ने भी जो स्वामी जी को नियम पूर्वक नित्य भोजन पहुँचाने की सेवा की थी उसमें भी कुछ प्रच्छन्न मौन याचना थी। यद्यपि वे ऊपर से कुछ माँगते तो न थे परन्तु सन्तान के अभाव का दुःख तो दम्पति को था ही। इधर स्वामी जी ने जब ध्यान पूर्वक उसके भाग्य को देखा तो सन्तान का संयोग ही न था परन्तु श्रद्धापूर्वक कई वर्ष तक सेवा करने के फलस्वरूप कुछ पुण्यों का सचय हो चुका था। उस पुण्य राशि के बदले में ही स्वामी जी ने अपने अधिकार के दो जीवात्माओं को इस भक्त के यहाँ जन्म लेने की प्रेरणा की। प्रसंगवश स्वामी जी के मुख से ही मैंने यह कथा सुनी थी। मैंने एक बार प्रश्न किया था कि स्वामी जी! आप असोथर के इस गरीब भक्त शिवमंगलसिंह की सहायता का ही क्यों पक्ष लेते हैं, इसके उत्तर में स्वामी जी ने बतलाया कि जब इसके सन्तान न होती थी तब मैंने अपने सम्बन्धित एक जीव से यह कहा था कि 'तुम इसके यहाँ जन्म ले लो, किन्तु शिवमगल सिंह की निर्धनता को देखकर वह जन्म लेने को तैयार न होता था तब मैंने उसे आश्वासन दिया कि हम तुम्हारे सभी सामयिक अभावों की पूर्ति करते रहेंगे। इस वचन पर वह जीवात्मा जो आजकल पुत्र रूप में है, जन्म ले सका था। बस उसी अपने बचन की पूर्ति मुझे करनी पड़ती है।

इस प्रकार की बातों में वही मनुष्य अविश्वास करेंगे जो सन्तों की असाधारण सामर्थ्य से अपरिचित हैं। सन्त की दिव्य दृष्टि में लोक लोकान्तरों के जीव अन्तवाहक शरीर में दिखलाई पड़ते हैं। सन्त को अपने पिछले जन्मों के अनेक सम्बन्धी भी जहाँ कहीं जिस योनि में होते हैं दिखाई देते हैं। अतएव संत जन अपने उन सम्बन्धियों को जिन्होंने कभी किसी भी रूप में उनकी सेवा की है उसके बदले में गति सद्गति एवं परम गति

का मार्ग दिखलाते और साधन बताते हैं। यही कारण है कि हमारे धर्म शास्त्रों में अनेक ऐसे वचन मिलते हैं कि जिस कुल में परमात्मा का भक्त एवं ज्ञानी पुरुष उत्पन्न होता है उस कुल की इक्कीस पीढ़ी तर जाती है। शास्त्रों के यह वचन मिथ्या नहीं है। असोथर के शिवमंगल सिंह जी भी स्वामीजी के सम्बन्धी जीवात्माओं में से ही एक थे। कुछ दिन बाद उस भक्त की धर्म-पत्नी के गर्भ में दूसरा जीवात्मा आया।

जिस दिन यह जीवात्मा गर्भ में आया उसी दिन श्री स्वामी जी ने उसके घर जाकर यह कहा—कि आज तेरे घर में अमुक आदमी आया है, किन्तु शिवमगल सिंह स्वामी जी की इस बात का भला क्या अर्थ समझ पाता ?

समय पर जब वह पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह बालक अत्यधिक रोता था। साथ ही दूध भी नहीं पीता था बालक की यह दशा देख यह दोनों पति पत्नी बहुत चिन्तित हो गये। विविध उपचारों के बाद निराश होकर श्री स्वामी जी के चरणों में अपना दुःख निवेदन करने आये। उस समय स्वामी जी का मौन व्रत समाप्त हो चुका था, वे बोलने लगे थे। इन्होंने हंसते हुए कहा कि ठीक है वह धनी-घर से गरीब-घर में आया है इसीलिये रोता है। श्रीस्वामी जी भक्त शिवमंगल सिंह के घर गये और उन्होंने बालक को वैसे ही समझाया जैसे कि कोई किसी समझदार को समझाता है। तत्पश्चात् उस बालक की माता के स्तनों से दूध निचोड़ कर बालक को दिखाते हुए स्वय पी गये और बालक से बोले—अरे भाई, अब तो पीले, प्रसाद है, प्रसाद ! इतना सुनते ही वह बालक दूध पीने लगा।

इधर घर से स्वामीजी के निकलते ही उसने फिर वही दूध न पीने और रोते रहने की जिद ठानी। अत. स्वामी जी को फिर

दो-चार बार आकर समझाना पड़ा। अन्त में उस नवजात शिशु की बुद्धि पलट गई और वह अपनी माता की गोद में सन्तुष्ट होकर रहने लगा।

श्री स्वामी जी ने अपनी ओर से दिये गये वचन के अनुसार इन दोनों जीवों की सहायता का सदा ध्यान रक्खा। भक्त पर प्रारब्ध वश जो भी संकट आये श्रीसद्गुरु देव कभी विभूति देकर कभी कोई औषधि बताकर ध्यान योग द्वारा इन्हे सकट मुक्त कर दिया करते थे।

इस प्रकार स्वामी जी द्वारा कुछ ऐसी असाधारण न हो सकनेवाली बातों को पूर्ण होते देख अश्रद्धालु व्यक्तियों में भी श्रद्धा का उदय होने लगा। अब तो जिसे देखो वही परमहसजी के आशीर्वाद एवं विभूति से अपने दुःख दूर होने की आशा करने लगा। इधर स्वामी जी के दरबार में भी खुले हाथों दया का दान बँटने लगा। निदान, उनकी विभूति का यशोगान दूर-दूर तक होने लगा। विविध प्रकार के रोगी और दुःखी स्वामी जी की शरण में आये। उन्होंने बालकों में खेलते-खेलते जंगल की कोई भी जड़ी-बूटी जिसे दे दी वही उसके लिये सकल रोगनाशक एवं दुःख निवारक अचूक औषधि बन गई।

श्री स्वामी जी अपने शरीर में सदैव राख लपेटते रहते थे, स्नान के बाद जलशोषण के लिये भी राख का ही प्रयोग करते थे। ग्रीष्मकाल में शरीर का प्रस्वेद राख से ही सुखाया जाता था। साराश, स्वामी जी के शरीर पर वस्त्र का काम भी वह राख ही करती थी। इस राख का नाम ही स्वामी जी की विभूति है। स्वामी जी अपने पास आने वाले व्यक्तियों को यही विभूति प्रसाद रूप में दिया करते थे। रोगी एव दुखी के शरीर में भी

यही विभूति लगाते और मलवाते थे। अधिकांश दैहिक बाधाएं तो इसी विभूति से ही दूर हो जाती थीं।

उस समय स्वामी जी में कुछ ऐसी ही विलक्षण तप की शक्ति संचित थी जिसके द्वारा परम विस्मयजनक एवं असम्भव से कार्यों का भी वे सम्पादन करते रहे, किंतु स्वामी जी ने कभी भी किसी प्रकार के प्रदर्शन के विचार से कोई भी चमत्कार दिखाने का प्रयत्न नहीं किया।

इनकी शक्ति का परिचय तो दूसरों की दु:ख निवृत्ति करते हुए भावुक भक्तों, दीन दुखियों की सेवा-सहायता करते हुए ही मिलता है। परमहंस जी बालकों के साथ खेलते हुए ही असाध्य से असाध्य रोगियों के लिये औषधि खोजा करते थे। ये जहाँ भी होते वहीं की समीपस्थ वस्तुओं से ही रोगी का उपचार होने लगता था। यदि जंगल में कोई दु:खी पहुँच जाता था तब तो जंगली-वनस्पतियों से दु:खी का दु:ख दूर करते और यदि किसी के घर में होते तो जो कुछ भोजन वहाँ बना होता उस भोजन को ही औषधि बना दिया करते थे। इस प्रकार न मालूम कितने मियादी-बुखार के रोगियों को—जिनका अन्नादि भोजन चिकित्सकों ने महीनों से छुड़ा दिया था, स्वामीजी ने भर पेट भोजन करा दिया और वे सदा के लिये चंगे हो गये। किन्हीं-किन्हीं रोगियों को तो स्वामी जी ने कई बार भर पेट दही-बड़ा पूरी आदि खिला दी और वे उसी समय से अच्छे हो निकले। प्राय: नवागन्तुक व्यक्ति स्वामी जी के ऐसे उपचारों से भय खाते थे किन्तु परिचित श्रद्धालु इतने निर्भीक हो गये थे कि स्वामी जी जो कुछ भी देते उसे बड़ी श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया करते थे।

बालकों की बड़ी-बड़ी भयानक बीमारियाँ तीव्र ज्वर आदि अपने हाथों से स्नान कराकर, अथवा कभी धूनी की आँच में

तपाकर कभी केवल विभूति (राख) ही लगाकर अच्छा कर दिया करते थे।

जिला फतेहपुर के बिन्दकी ग्राम की एक धनी घर की महिला तपेदिक से पीड़ित थी। अकस्मात श्री स्वामी जी भी वहाँ पहुँच गये। उसके घरवालों ने स्वामी जी से प्रार्थना की। सुनते ही स्वामी जी ने जंगल की एक बूटी दिखाकर पिलाने का आदेश किया। बस उस बूटी के कुछ दिन सेवन करने से वह महिला पूर्ण स्वस्थ हो गई। इसी प्रकार उसी ग्राम के एक और पुरुष भी इस रोग से पीड़ित थे। औषधि तो—जो कि स्वामीजी ने उस महिला को दी थी, उस पुरुष की चिकित्सा करने वाले वैद्य को मालूम ही थी, उसने उसका उस मनुष्य को भी सेवन कराया किन्तु कुछ लाभ न हुआ।

इधर स्वामीजी जब दूसरे ग्राम में थे तब उनका पता लगाकर वहाँ के कुछ लोग स्वामी जी को उस पीड़ित पुरुष के कल्याणार्थ लेने आये परन्तु स्वामीजी न गये। अन्त में वह यक्ष्मा (तपेदिक) का रोगी समाप्त हो गया। साराश, स्वामी जी को दी हुई औषधि को पहिचानकर यदि कोई दूसरा देता था तो वह औषधि लाभ न करती थी। हाँ, स्वामी जी के हाथों दी जाने पर तो वह अचूक लाभप्रद होती थी। सभवत इसका यही रहस्य प्रतीत होता है कि स्वामीजी के स्पर्श एव उनके पवित्र दृढ़ संकल्प से ही उस औषधि में आश्चर्य जनक प्राणशक्ति भर जाती थी जिससे रोगियों का कल्याण होता था।

विरक्त महापुरुषों में तप के बल से ऐसी शक्ति सग्रहीत होती है कि आत्मनिर्देश से ये मानसिक और शारीरिक सभी प्रकार की बीमारियों को दूर कर सकते हैं। इनके तीव्र सकेत से शरीर के जीवाणुरक्त, कण एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होते हैं।

जो कोई अपनी इच्छाओं को मार सकता है उसी में यह शक्ति हो जाती है कि अपने संकल्प से अणु परमाणु को शुद्ध कर सकता है, प्रतिकूल को अनुकूल बना सकता है।

हममें से कोई भी इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर सकता है। यदि हम सदा अपनी मानसिक शक्ति को संकल्प और विकल्प में व्यय न करें तो हमारे भीतर कभी-कभी उठने वाले संकल्प की पूर्ति के लिये पर्याप्त शक्ति संचित हो सकती है, परन्तु इसके लिये हमें चेतना की धारा को स्ववश करना होगा। शरीर के भीतर किसी एक केन्द्र पर मन को एकाग्र करना होगा। पूर्व स्वभावानुसार उठने वाले चित्त के स्फुरण को तत्क्षण दबाते रहना होगा।

सन्त महापुरुष में प्राय. दो ही संकल्प अधिकतर होते हैं, प्राणियों के हित का संकल्प और एकान्त ध्यान का संकल्प। हमारे परम हंस जी में यही दो सकल्प उठते थे और इन्हीं की पूर्ति के लिए शक्ति का उपयोग होता था। इनका चित्त सदा समाहित शान्त रहता था, अधिकतर आँखो की पलकें भी न गिरती थीं।

जिला कानपुर में एक सवायतपुर नामक ग्राम है। वहाँ एक प्रेमी भक्त के घर स्वामी जी पधारे। उस भक्त के घर में जो कुआं था उसका पानी खारी था। श्री स्वामी जी को जल पान कराने के विचार से जैसे ही वह भक्त कलश लेकर जल भरने के लिये बाहर वाले कुएँ पर जाने लगा वैसे ही स्वामी जी ने पूछा—जब तेरे घर में कूप है तब तू बाहर पानी लेने क्यों जाता है। भक्त ने हाथ जोड़कर कहा, महाराज! घर के कुएँ का पानी तो खारी है पीने लायक नहीं है। स्वामी जी ने तुरन्त कुएँ में डालने के लिये विभूति दी उसको डालते ही कुएँ का जल मीठा हो गया जो अब तक मीठा ही है।

एक बार साढ़ ग्राम के एक श्रद्धालु ब्राह्मण के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ परन्तु माता के स्तनों से दूध ही न निकलता था। वह नवजात शिशु तो दूध के बिना व्याकुल था ही साथ ही उसकी जन्मदात्री माता भी स्तनपीड़ा से अत्यन्त व्यथित हो रही थी। ग्राम वैद्यों के सब उपचार व्यर्थ हो चुके थे अतः कुछ लोगों की यह सम्मति हुई कि अब नागा बाबा को बुला कर उनसे प्रार्थना की जाय। यह प्रस्ताव सबने स्वीकार किया और कुछ देर बाद बालकों के साथ खेलते हुए नागा बाबा को लोगों ने ढूँढ़ लिया।

अपनी सारी व्यथा नागा जी को सुनाकर वे लोग बालकों सहित इन्हे अपने घर ले आये। उस समय ये मौन ही रहते थे। इनका कोमल हृदय किसी भी दुखी की वेदना से अत्यन्त व्यथित हो उठता था। उस समय ये बालकों को घर के आँगन में ही छोड़ प्रसूतिका गृह में घुस गये। इनमें सभी श्रद्धा रखते थे अत-एव इनकी गति भी सर्वत्र अबाध थी। प्राय. श्रद्धालु भक्त इन्हें अवधूत रूप में बालकवत् ही देखते थे। इन्होंने माता के स्तन पान करने का संकेत किया, इस सकेत से पहिले तो वह माता लज्जावश कुछ सकुचाई परन्तु उस महासकट दशा में एक अव-धूत सन्त के सामने इस प्रकार के संकोच का पक्ष कैसे टिक सकता था। पति ने सम्मति दी, माता ने अपने स्तन से वस्त्र हटा दिया। स्वामी जी ने अपने मुख से स्तन पान कर तीन बार रुधिर रूप में वमन किया। प्रत्येक बार स्वामी जी बाहर सूर्य की ओर मुख कर फिर बाद को स्तनपान करते थे इस प्रकार चौथी बार मुख से दुग्ध निकला। तदनन्तर जब इस क्रिया के बाद शुद्ध दूध निकलने का विश्वास हो गया तब उस नवशिशु को दुग्ध पान कराया गया। इस प्रकार स्वामी जी ने उस बालक एवं उसकी माता दोनों का ही कष्ट दूर किया।

वही बालक सयाना होकर कई बालकों का पिता बना। कुछ दिनों बाद जब स्वामी जी फिर मिले तो इन्होंने उस व्यक्ति को सावधान किया कि 'अब तू कुछ परमात्मा का भजन कर ले, तेरा समय थोड़ा ही रह गया है। किंतु माया मोह के वशीभूत हुआ जीव भला इतनी सरलता से क्यों सुनेगा। अन्त में स्वामी जी के सकेतानुसार वह व्यक्ति कुछ दिन बाद अस्वस्थ हुआ और उसे शरीर का त्याग करना ही पड़ा। श्री स्वामी जी ने उसके भाई से यह भी बतलाया था कि अब वह अपनी बहिन के उदर से जन्म लेने गया है। अनेक लक्षणो, विचित्र स्वपनों एवं कुछ बातों से परिवार वालों को यह निश्चय हो भी गया कि यह पुत्र के रूप में जन्म लेने वाला वही व्यक्ति है जो पहिले भ्राता रूप में मिला था।

इसी ग्राम के एक शिक्षित सभ्य ब्राह्मण सेवा भाव से साधारण चिकित्सा कार्य किया करते थे। इनके पुत्र को चेचक का प्रकोप हुआ। ज्वर अति तीव्र था।

श्रीपरमहंस जी महाराज बालकों के लिये तो साक्षात नयनाभिराम आनन्दघन, श्यामसुन्दर भगवान् श्री कृष्ण की भाँति प्राण प्रिय सखा स्वरूप थे ही। ज्वर वेग से पीड़ित वह बालक अपने समीपवर्ती लोगों से हठाग्रह करने लगा कि हमें स्वामी जी के दर्शन करा दो। परिवार के लोगों ने यह समझा कि आज देवी जी स्वामी जी के दर्शनों को मचल रही है। परन्तु उस समय उन लोगों को यह भी ज्ञान न था कि स्वामी जी महाराज है कहाँ? किन्तु जब उस बालक के बड़े भ्राता घर के बाहर निकले तो उन्हे अकस्मात् "नागा बाबा की जै" की तुमुल ध्वनि सुनाई दी। ज्योंही उन्होंने आगे बढ़कर देखा तो सामने बालकों के साथ खेलते हुए श्री परमहंस जी मिल गए। उन महाशय ने

हर्षित हो चरणों में प्रणाम किया और बालक की दशा का वर्णन किया। सुनते ही श्री स्वामी जी ने उनके साथ घर जाकर रुग्ण बालक के शरीर पर विभूति लगाई जिसके लगाने के कुछ देर बाद ही बालक का ज्वर शान्त हो गया।

इसी प्रकार पाली ग्राम के एक भक्त ब्राह्मण परिवार ने अपनी छोटी बहू के लिये एक पुत्र या पुत्री प्राप्ति की प्रार्थना की। परमहंस जी ने कहा घबराते क्यों हो इस बहू के तो एक पुत्री और दो पुत्र होंगे। फलतः कुछ समय बीतने पर श्री स्वामी जी के कथनानुसार क्रमश एक पुत्री और दो पुत्रों का जन्म हुआ।

एक बार उसी पुत्री को ऐसा ज्वर आया कि २१ दिन तक उतरा ही नहीं, माता पिता उसके जीवन से निराश हो गए किन्तु श्री परमहंस जी ने उसके शरीर में विभूति लगाकर कुछ ही देर में ज्वर उतार दिया, वह सो गई। तत्पश्चात् स्वामी जी चलते चलते घर वालों से कहते गए कि यह लड़की बारह बजे रात में नींद से उठेगी और खाना मांगेगी तब इसे तुरन्त पूडी खिलाना और पूड़ियों को पहले से ही बना के रख लेना। घर वालों ने वैसा ही किया, जब रात में बालिका की नींद टूटी तब बीस दिन के बाद उसे पूड़ी खिलाई गई। वह स्वस्थ होकर दूसरे तीसरे दिन से बालकों के साथ खेलने लगी।

स्वामी जी ने जो दो पुत्र होने की बात कही थी सो उन दोनों पुत्रों की शिशु अवस्था में ही बता दिया था कि एक जीवात्मा पञ्जाब से आया है यह बहुत बगड़ उद्दण्ड होगा और दूसरा लड़का शान्त प्रकृति का होगा। श्री स्वामी जी के कथनानुसार ही दोनों बालकों का स्वभाव देखा गया।

योगी महापुरुष दिव्य दृष्टि द्वारा जीवों की भूत तथा भविष्य दोनों दशायें देख लेते हैं। प्रत्येक जीव के कर्मों का सांस्कारिक

रूप एक चित्र की भाँति आकाश पटल में गुप्त रूपेण अंकित रहता है। मनुष्य के प्रत्येक भावों तथा विचारों के अनुसार ही चित्र बनते हैं। वह चित्र बहुत ही उग्र, भयानक तथा बहुत सौम्य, सुन्दर भी हुआ करते हैं। उन्हीं को चित्रगुप्त कहते हैं जो प्रत्येक जीव के कर्मों के परिणाम को प्रगट करते हैं और जिसे ही जीव को भोगना पड़ता है। श्री स्वामी जी किसी भी जीव के गुप्त कर्म चित्र को देख लेते थे और सूक्ष्म शरीर से विचरने वाले जीवा-त्माओं को भी देखते रहते थे। यही नहीं यह महात्मा तो कुछ विचित्र ढग से एक आँख से ही अर्धोन्मीलित दृष्टि द्वारा अन्त-र्लोकों का दर्शन करते रहते थे। इस विषय में हमें कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है अतः प्रस्तुत प्रसंग पर ही हम विचार करेंगे।

श्रीस्वामी जी की ऐसी अलौकिक बातें देखकर असंख्य नर-नारी इन्हें सांसारिक लाभों की सिद्धि के लिये ही प्राय. घेरे रहते थे। इधर स्वामी जी भी ऐसी परिस्थितियों के घिराव से कभी ऊबते भी न दीख पड़े प्रत्युत प्रसन्न और शान्त रह कर सब की सुनते तथा जिसने जो कुछ कहा उसी को मानने के लिये तैयार रहते थे किन्तु कभी कोई धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध जघन्य (नीच) पाप क्रियाओं के लिये उन्हें प्रेरित न कर सका।

सन्त सद्गुरु के जीवन में जो चमत्कारिक शक्तियाँ दिखाई देती हैं वह केवल हृदय के अत्यन्त शुद्ध होने पर ही अभिमान-त्याग और सर्वभावेन परमात्मा के प्रति ही अटूट अनुराग के कारण प्रगट हुई है और इन चमत्कारिक शक्तियों का सन्त ने संसार की सेवा में जो सदुपयोग किया है। किसी प्रकार का बदला चाहे बिना दूसरों की सेवा सहायता करते रहना ही तो सन्त के पवित्र विशाल हृदय होने का परिचय है।

हमारे ये सन्त अपनी एकान्त की तपोमयी साधना में जितने

गुप्त थे, जितना ही जन संसर्ग से दूर रहते थे उतना ही ये दीन-दुखियों की सहायता के लिये बृहद् जन समुदाय के मध्य विचरते रहे। एक समय इन सन्त के सामने ऐसा भी आया कि सब के लिये खुला द्वार था इनसे जो कुछ चाहे कहला ले और जैसा चाहे करा ले, केवल इतना ही पक्ष था कि सामाजिक धर्म मर्यादा के विरुद्ध किसी चेष्टा का स्थान न था। शेष में इनके पास जो कुछ था वह सब का था। अपनी-अपनी योग्यतानुसार इनके पास होने वाली शक्ति का कोई भी अपने लाभार्थ उपयोग कर सकता था।

समीपवर्तियों ने इन महादानी सन्त की उदारता का और सेवा करते हुए कष्ट सहिष्णुता का जो अनुभव किया है वह कहते हुए भी पूरा नहीं कहा जा सकता। सहानुभूति और सेवा-मय जीवन में ही आत्मा के गुणों का विस्तार होता है। व्यक्ति-गत स्वार्थमय जीवन से आत्मपतन होता है।

आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा सिद्धि लाभ के लिये सन्त श्री परमहस जी कुछ मूल धार्मिक तत्त्वों पर विशेष जोर देते थे। इनकी मान्यता थी कि इस युग में प्राणि मात्र के प्रति दया पूर्ण व्यवहार करने से और परमात्मा के निरन्तर नाम जप से ही जीव को परमात्मा का योग और संसार से वैराग्य हो सकता है। आप दुर्बल को सहायता, शरणागत की रक्षा करने वाले को ही वीर पुरुष कहते थे। दूसरों को सहायता तथा रक्षा के लिये बौद्धिक कुशलता के साथ ही शारीरिक बल बढ़ाने के पक्षपाती है। यहीं तक नहीं प्रत्युत साधनाभ्यास तथा भजन ध्यान के लिये भी आप शरीर में बल की आवश्यकता बताते थे। आपका कहना था कि योग सिद्धि के लिये भी युवावस्था और शारीरिक बल सहायक होता है। बल क्षीण होने पर अवस्था ढल जाने

पर योग सिद्धि होना कठिन है। इसीलिये आत्मोद्धार चाहने वालों को ये सन्त युवावस्था में ही साधन भजन करने की प्रेरणा देते थे। शरीर रक्षा के लिये ये सन्त-सद्गुरु विचार पूर्वक मध्य मार्ग के पक्षपाती थे। अकारण ही अन्नादि छोड़ कर शरीर को जीर्ण बना देने की सम्मति आप नहीं देते साथ ही देह को पहलवान बनाने की चिन्ता लेकर अधिकाधिक घृत दुग्ध सेवन करते रहने का भी पक्ष नहीं लेते थे। आपकी सम्मति थी अनायास प्रेम पूर्वक जो रूखा सूखा भोजन मिले भर पेट खा लो और खूब भजन करो।

एक बार एक अपरिचित ब्राह्मण जिसे अपनी विद्या एवं साधना का अभिमान था—श्री स्वामी जी के दर्शनार्थ आया और स्वामी जी के समीप ही अपनी समाधि दशा का परिचय देने के लिये आसन जमाकर बैठ गया। बहुत देर हो जाने पर उसके उठाने की अनेक चेष्टायें की गईं किंतु वह अपनी प्रतिष्ठा के लोभ में सब कुछ जानते-सुनते हुए भी छल करके बैठा ही रहा। कुछ देर बाद जब स्वयं उठकर बाहर आया तो तत्काल ही उसकी आँखों की दृष्टि मन्द पड़ गई। बहुत कम दीखने लगा। इस प्रकार सन्त के समीप दम्भ करने का फल उसे किसी अज्ञात शक्ति के प्रकोप से देखना पड़ा।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सन्त महापुरुषों की समीपता में प्रायः सभी को शान्ति का अनुभव क्यों होता है? इसका मुख्य कारण यह है कि सन्त महापुरुषों के चारों ओर सात्विक भावों तथा विचारों की शक्ति पूर्ण लहरें भरी रहती हैं उन्हीं विशुद्ध भावों एवं विचारों के प्रभाव से समीप पहुँचने वाले व्यक्ति में कुछ देर के लिये भाव एवं विचार का क्षेत्र कम्पित हो उठता है और निम्न क्षेत्रों की क्रिया कुछ

समय के लिये शान्त हो जाती है। क्योंकि मन की वृत्तियाँ अन्त-मुखी हो जाती हैं साथ ही बुद्धि को ऊर्ध्वोन्मुख होने का अवसर मिलता है। अतएव प्रत्येक प्रपंचासक्त जीव को भी सन्तों की समीपता में सात्त्विक विश्राम मिलता है। सन्तों की समीपता मे पहुँचने वाले व्यक्ति के प्राकृतिक द्रव्य जितने ही अधिक शुद्ध होते हैं उतने ही अधिक वे सात्विक भावों एव विचारो द्वारा कम्पित होते हैं क्योकि प्रत्येक प्रकार की शक्ति का प्रभाव सजातीयता में ही अधिक पडता है। दिव्यता का प्रभाव जितना मानवी प्रकृति में अधिक उतरता है उतना दानवीय प्रकृति में नहीं उतरता।

यो तो प्राय: सभी दर्शकों को श्री स्वामी जी की समीपता में शान्ति का अनुभव होता था फिर भी उन व्यक्तियों की परितृप्ति तो बहुत ही अधिक होती थी जो पहिले से ही सत्वगुणी प्रकृति को जाग्रत किए हुए थे।

प्रेमी पाठक यह पढ़कर और भी आश्चर्य चकित होंगे कि स्वामी जी को अपने द्वापर युग में होनेवाले जन्म का भी पता था और ये द्वापर युग से चले आने वाले अपने तीन शत्रुओं को भी देखते थे। साथ ही स्वामी जी उन अपने सम्बन्धित मित्र जीवात्माओं को भी जानते थे जो वर्त्तमान मे जन्म ले चुके थे अथवा अदृश्य जगत् में निवास कर रहे थे।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि हमारे चरितनायक श्री स्वामी जी महाराज असोथर में ही विशेष क्यों ठहरे?

प्राय साधारण व्यक्तियों में भी यह देखा जाता है कि पूर्व-स्मृति के आधार पर ही उन में वर्त्तमान व्यवहार का ज्ञान दृढ होता है। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि मायाबद्ध मनुष्यो की स्मृति वर्तमान जन्म के कुछ सीमित वर्षों तक ही शेष रहती है

इसके विपरीत जिनके अन्तःकरण के आवरण हट जाते हैं, दिव्यदृष्टि खुल जाती है उन सन्त महात्माओं के शुद्ध मन में सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व होने वाले जन्मों की भी स्मृति जाग्रत रहती है। अतः उनका ज्ञान भी उस दिव्य स्मृति के अनुसार होता है।

प्रेमी पाठकों को यह रहस्य भी ध्यान में रखना चाहिये कि जो प्राणी पुण्यवान एवं धर्म परायण नहीं होते उनका जन्म भी इस भूतल पर शीघ्र हीं होता रहता है क्योंकि वे प्राय. स्वर्गलोक तक नहीं पहुँच पाते। मृत्यु के बाद भुवर्लोक के निचले खंडों से ही लौटकर पुण्यहीन जीवों का पृथ्वी पर जन्म होता रहता है। पुण्यशाली जीवात्मा ही स्वर्ग तक पहुँच पाते हैं। न्यूनाधिक पुण्यों की सीमा के अनुसार स्वर्ग में भी नीचे खड से लेकर उच्चातिउच्च खंडों तक पहुँच होती है। जो जीवात्मा स्वर्ग के जितने ऊंचे खंडो तक पहुँच पाता है उतने ही अधिक दीर्घकाल तक उसका वहाँ निवास रहता है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष अपने उच्चतम पुण्यों के अनुसार देवलोक में पहुँच जाता है तो वह पृथ्वी पर हजारो वर्ष बाद जन्म लेता है।

महाभारत काल में श्री स्वामी जी महाराज महात्मा कर्ण के नाम रूप में थे। उस शरीर को श्री स्वामी जी महाराज अब भी कभी कभी ध्यान में देखते थे। उस रूप में रहकर जितनी अधिक दानशीलता आप को प्राप्त हो सकी थी उतनी दानशीलता भगवान के महाभाग्यवान भक्त सखा अर्जुन को भी प्राप्त न थी। परम प्रेममय सर्व समर्थ भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी भी अपने भक्त अर्जुन के सम्मुख जिसके अद्वितीय पराक्रम एव आदर्श दानशीलता की बड़ाई करते रहते थे उनके पुण्य प्रताप की भला क्या सीमा बताई जा सकती है।

निस्सदेह उस परम वीरगति के फल रूप में अनन्त पुण्यों के बल से हमारे स्वामी जी महाराज को भी उच्चतम स्वर्ग की प्राप्ति हुई होगी और वहाँ से यह सहस्रों वर्ष बाद इस भूतल पर उतरे हैं। स्वामी जी के कथन से यह भी ज्ञात हो सका कि वे महाभारत काल से लेकर अब तक प्रवृत्ति मार्ग में न उतर कर निवृत्ति मार्ग में ही बढ़ते आरहे हैं।

तर्क से भी यही सिद्ध होता है कि जिस महान् पुरुष ने महाभारत काल में भगवान से किसी प्रकार की भी सन्निकटता प्राप्त की हो तथा महान ऐश्वर्य भोग के बीच से निकलते हुए समराङ्गण में भगवान के दिव्य दर्शन करते हुए शरीर का त्याग किया हो वह भला फिर क्यो ससार चक्र में फँसेगा ?

हाँ, कुछ थोड़ी सी यह कमी अवश्य रह गई कि परात्पर तत्त्व के साकार दर्शन करते हुए भी उस समय किसी अन्य कर्त्तव्य की पूर्ति के निमित्त प्रबल धुन थी।

उस समय का धर्म कुछ और ही था। न तो वहाँ मोक्ष प्राप्ति का सकल्प ही था और न लक्ष्य ही, अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्हें अन्य जन्म धारण करने पड़े। इन जन्मों में भी श्री स्वामी जी केवल तप एव त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में परमानन्द स्वरूप परात्पर परम तत्व के योगी हुए !

हमें बीच में उठे इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि स्वामी जी ने असोथर मे ही अधिक काल तक निवास क्यो किया ? यह तो प्रथम ही बताया जा चुका है कि पूर्व स्मृति के आधार पर ही वर्तमान के विचार, भाव एव कर्म होते हैं। स्वामी जी के वर्तमान जीवन में जिस प्रकार के कर्म भाव एव ज्ञान का दर्शन मिलता है वह इस जन्म के कुछ वर्षों की स्मृति के आधार पर अवलम्बित नहीं है। वर इस जीवन के कर्म, भाव

तथा विचारों का आधार है महाभारत क़ालीन जीवन की स्मृति। श्री स्वामी जी महाराज असोथर राज्य की वन भूमि की ओर इसलिये विशेष आकर्षित थे कि यह असोथर महाभारत कालीन महा पुरुष द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का बसाया हुआ था। आज के भग्नावशेष गृह चिन्हों को देखकर भी यह अनुमान होता है कि किसी समय यह बहुत बड़ा नगर रहा होगा। इस समय तो उसकी परिधि में कंटकाकीर्ण वृक्षावलियाँ और कहीं-कही उपजाऊ खेत बन गये हैं। स्वामी जी का उन्हीं स्थानों और उन्हीं व्यक्तियों के प्रति विशेष ध्यान था जिनसे कई जन्म पूर्व का सम्बन्ध चला आ रहा था किन्तु इस रहस्य को उनके अति निकटवर्ती विशेष प्रेमी जनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति न जान सके।

श्री स्वामी जी के निकट संपर्क में जो भी व्यक्ति आ सके उन सब का किसी न किसी प्रकार का पूर्व जन्मो से ही सम्बन्ध था। स्वामी जी ने अपने पूर्व परिचित जीवात्माओं को खोज-खोज कर उनकी भिन्न-भिन्न योग्यताओं के अनुसार किसी को गति, किसी को सद्गति और किसी को परमगति प्रदान की। वीतराग निष्काम योगी इतने परितृप्त अपने में शान्त और आनन्द से छके रहते हैं कि उनमे संसार से किसी प्रकार की चाह एवं इच्छा का स्फुरण ही नहीं होता। स्वय अतृप्त और अपूर्ण यह जगत पूर्ण परितृप्त महापुरुष को भला दे ही क्या सकता है।

ऐसी दशा में फिर एक परमयोगी अपनी महिमा और अपनी शक्ति का परिचय देने के लिये क्यों उत्सुक होगा? यदि कोई परमार्थी साधक मान बड़ाई की लिप्सावश अपनी विशेषता अर्थात् सिद्धियों का वर्णन करता है तो वह तत्त्व निष्ठ योगियों

को दृष्टि से गिर जाता है क्योंकि यह कार्य गुरुता में लघुता का परिचायक है।

संसार से मिलनेवाले सुखैश्वर्य एवं मान बड़ाई के प्रति श्री परमहंस जी निरीहता एव निःसकल्पता को प्राप्त कर चुके थे। यही कारण है कि इनके महान् कृत्यों का परिचय मानव समाज को भली भाँति न प्राप्त हो सका। ये बालकों के साथ खेलते हुए ब्रह्मात्मैक्य बोधानन्द में निरन्तर छके रहते थे। इनकी हँसती हुई आंखों से निकलने वाली पवित्र हर्पमयी किरणें चारों ओर फैली रहती थी। इनकी समीपता में पहुँचते ही शेर और सांप के समान भयानक प्रकृतिवाले मनुष्य भी कुछ देर के लिये सात्विक भावों से अभिभावित हो जाते थे। भय इनके समीप से सदा के लिये भाग गया था। मोह ने इनके हृदय में दिव्य प्रेम का रूप धारण कर लिया, काम के लिये तो मानो इन्होंने अपना अदृश्य तृतीय शिवनेत्र ही खोल' रक्खा था। लोभ तो लज्जित होकर इनके समुख कभी अपना मुख ही न दिखाता था। यह महापुरुष क्रोध रूपी विप का नीलकण्ठ बन, पान कर सदा के लिये निश्चित हो चुके थे। इन्होंने ही ममता को समता की डोरियों में अपने साथ बाँध रक्खा था। अभिमान को तमाल पत्र की भांति मलकर मुख में रखते और थूक दिया करते थे। इसी प्रकार अहकार को भी सत्स्वरूप के ज्ञान सागर में सदा के लिये इन्होंने डुबो दिया था।

पाशविक वासनाएँ और अहकारिक महत्वाकांक्षाएँ मनुष्य की प्राणशक्ति को अधोगामिनी बनाकर उसके आत्मिक जीवन को बद्ध बना देती है। इसलिये इनका निरोध करना बन्धन निवृत्ति के लिये अत्यावश्यक है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वामी जी की

विभूति मे रोगनिवारण की शक्ति कहां से आती थी। ये कोई यान्त्रिक तान्त्रिक तो थे नहीं ये तो वीतराग परमसन्तुष्ट महात्मा थे। यदि ये किसी जादू-टोना द्वारा अभावग्रस्त एवं सकटों से पीड़ित मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करते भी तो क्यों करते ? प्रपंचासक्त एव भोगासक्त मानव के पास ऐसी कौन सी विशेष सम्पत्ति है जिसे देकर वह किसी विरक्त सन्त का सन्तुष्ट कर सके।

स्वामी जी परम ज्ञानी है अतएव सांसारिक सुखा और सुखद वस्तुओं से पूर्ण विरक्त थे। विरक्त होने के कारण ही ये अपनी शक्ति का दूसरों की सेवा-सहायता में दान कर सके है। इनकी दी हुई विभूति एवं किसी भी वनौषधि के पीछे इनकी संकल्पशक्ति तथा इनके शरीर से निःसृत प्राण धारा काम करती थी इसी से पात्र भेद के अनुसार सबको लाभ होता रहता था।

जैसे विद्युत शक्ति का संग्रह बैटरी में रहता है वैसे ही योगियों के शरीर में भी शक्ति सग्रहीत रहती है। योग साधना मे जितना उत्कृष्ट तप अथवा सयम सुदृढ़ होता है उसी क्रम से योगी के अन्तः शरीरस्थ चक्रों में शक्ति राशि का सचय होता रहता है। वही शक्ति योगी के हाथो की अंगुलियों के अग्र भाग से तथा नेत्रो से विशेष रूप से निकलती रहती है और समस्त शरीर के चारो ओर सामान्य रूप से फैलती रहती है।

भावों और विचारों द्वारा वही शक्ति अत्यन्त तीव्र धारा से निर्दिष्ट लक्ष्य मे काम करती है। यही कारण है कि योगी महात्माओं के समीप बैठने मात्र से अद्भुत सन्तोष एवं शान्ति का अनुभव होता है। योगी महापुरुष के मौन रहने पर भी उसके भाव तथा विचार कम्पनों से मानव जगत् को उच्च प्रेरणा प्राप्त होती है। ऐसे शक्ति सम्पन्न योगी के हाथ से स्पर्श की हुई

वस्तु में शक्ति के वे परमाणु भर जाते हैं जो प्राकृतिक विकारों का संशोधन करने में समर्थ होते हैं।

श्री परमहंसजी में भी यही उच्चतम शक्ति थी। इसी शक्ति के योग से स्पर्श की हुई विभूति में इनके स्पर्श किये हुए जल में तथा किसी के प्रति स्वयं हृदय से प्रेरित की हुई भावनाओं एवं विचारों में वह अद्‌भुत प्राणशक्ति ओतप्रोत रहती थी जिससे श्रद्धालु भक्तों को लाभ होता था। हमने प्रायः यह देखा है कि जब स्वामीजी किसी को विभूति (राख) देते थे तब कुछ देर उसे हाथों से मलते रहते थे। उस विभूति को स्वयं लगाते और बाँटते भी रहते थे। जब किसी दूरस्थ दु:खी व्यक्ति का दुःख निवारण करना होता था तो नेत्र बन्दकर ध्यान द्वारा शक्ति कम्पन उसके पास भेजते थे। सैकड़ो मील की दूरी होने पर भी शक्ति धारा के द्वारा विपद्‌ग्रस्त भक्त की सहायता करते थे। जब कोई सेवक भक्त व्याधिग्रस्त होता तब पहिले तो अपनी शक्ति अनुसार उपचार करता। जब उपचारों से लाभ न होता तब स्वामीजी का ध्यान करता था। कभी कभी तो गुरुदेव के ध्यान करने मात्र से ही इनकी ओर से उसे स्वास्थ्यप्रद शक्ति मिल जाती थी। किंतु यदि कोई ध्यान न कर सकता था तो अपने सम्बन्धी द्वारा स्वामी जी के पास सूचना भेजने पर दूरातिदूर से ही अपनी यौगिक पद्धति द्वारा व्याधिग्रस्त सेवक की सहायता करते थे। प्राय. यही देखा गया कि सूचना लाने वाला व्यक्ति जब घर पहुँचता तो उसे व्याधि पीड़ित व्यक्ति अपनी पूर्व अवस्था की ओर लौटता हुआ मिलता। अर्थात् उस रोगी को रोग मुक्त ही पाता था।

योगी महात्माओं के सूक्ष्म-शरीरस्थ आन्तरिक चक्र उनके प्रबल तप अथवा संयम द्वारा जाग्रत हो निम्न मुखी न रहकर

ऊर्ध्वोन्मुख हो जाते हैं। योगी के उन्हीं चक्रों में प्रकार भेद से भिन्न-भिन्न लोकों की बहुगुणी शक्ति जाग्रत होकर क्रियाशील होती है। उसी शक्ति से योगी जो संकल्प करता है वह तत्क्षण पूर्ण होता है। किसी चक्र की शक्ति स्थूल कामनाओं एवं इच्छाओं को पूर्ण करा देने में समर्थ होती है।

किसी चक्र की शक्ति से उन उच्चतम भावनाओं की पूर्ति होती है जिनकी पूर्ति भौतिक बल से कभी भी नहीं हो सकती। किसी चक्र की शक्ति के प्राबल्य से अत्याधिक प्रेमभाव वृद्धिगत होता है और किसी चक्र के जाग्रत अथवा उन्मुख होने पर स्मृति और प्रज्ञा को आश्चर्यजनक बल प्राप्त होता है जो कि योगी की उच्चतम सिद्धि में सहायक होता है।

श्री परमहंस जी के जीवन मे बाह्यरूप से शक्तियों का खुल-कर कहीं प्रदर्शन नहीं मिलता। प्रदर्शन के क्षेत्र में तो यह कभी उतरे ही नहीं, फिर भी अपने निकटस्थ प्रेमी भक्तो के प्रति रक्षणार्थ सहायता तो इन्हे प्रत्यक्ष रूप में करनी ही पड़ती थी। इसी से इनकी असाधारण यौगिक शक्ति का परिचय मिलता है। श्री स्वामी जी महाराज सांसारिक वस्तु तथा व्यक्ति के संयोग-वियोग-जनित सीमा से परे रहते थे। इनके ज्ञान की व्याप्ति इतनी विस्तृत थी, जिसे साधारण बुद्धि नहीं समझ सकती। इनके अधिकार में जीवात्माओं का कितना बड़ा समुदाय है उसे सब लोग नहीं देख पाते। ये अपने अधिकृत जीवात्माओं को जब जहाँ उचित समझते हैं वहीं जन्म लेने को प्रेरित करते हैं तत्पश्चात मृत्यु पर्यन्त उनकी देखरेख रखते हुए उनकी सद्गति के साधन सुलभ करते हुए, अदृश्य रूप से उनकी सहायता करते रहते है।

योगी की महत्ता को योगी जन ही जान सकते हैं। योगी अपने संकल्प मात्र से कहीं नव सृजन और कहीं सृष्टि कलेवर

की शुद्धि के लिए संहार का वातावरण भी रचा करते है। साधारण मानव समाज तो स्थूल कार्यों को ही देख पाता है परन्तु कारण ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है। विश्व के बड़े-बड़े युद्ध और उनके मध्य अथवा अन्त में संधि (सुलह) के यही योगीजन प्रेरक होते हैं। योग पथ में जो संयम की साधना है वह अत्यन्त ही रहस्यमयी है।

इस एक संयम साधना से ही योगी में अलौकिक शक्तियाँ जाग्रत होती है। योगी के स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों से तो मनुष्य के समान ही क्रिया होती है किंतु इनके प्राणमय क्षेत्र की संयमित शक्ति द्वारा बहुत बड़े-बड़े कार्य पूरे होते हैं।

भोगी मनुष्यों में यह प्राणमय क्षेत्र की शक्ति इन्द्रियों द्वारा विविधि विषय जनित सुखों में नष्ट होती रहती है। परन्तु योगी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए शक्ति के अधोमुखी प्रवाह को ऊर्ध्वोन्मुखी बनाकर अपने पवित्र संकल्पों की पूर्ति में प्रेरित करते रहते हैं। यही कारण है कि श्री परमहंस जी महाराज द्वारा दी गई किसी भी औषधि से अथवा इनके दिये खाद्य एवं पेय पदार्थ से तथा विभूति से रोगियों के नाना रोग, कभी कभी तो असाध्य रोग भी दूर हो जाते थे। इसका एकमात्र कारण स्वामी जी के स्पर्श मात्र से उन पदार्थों में विशुद्ध प्राणतत्त्व का समावेश हो जाना ही था जो कि दुर्बल जीवन को शक्ति प्रदान करता है।

यहाँ पर रहस्यपूर्ण भेद समझ लेना चाहिए कि योगसंयम के द्वारा सम्रहीत शक्ति से सदैव एक समान सभी संकल्पो की सिद्धि नहीं होती। जितना ही इस शक्ति से अधिक काम लिया जाता है उतनी ही यह क्रमशः क्षीण होती जाती है। इसीलिये योगी पुरुषों में सदैव एक सा चमत्कार नहीं पाया जाता। जैसे

शक्ति का क्रमशः विकास होता है वैसे ही शुभ या अशुभ संकल्पों में उसका उपयोग करने से ह्रास भी हो जाता है। जैसे बैटरी में भरी हुई विद्युत् शक्ति आरम्भ मे अधिक दूर तक प्रकाश फेंकती है और क्रमशः मन्द होती जाती है वैसे ही प्राण-मय क्षेत्र में संयमित शक्ति की क्रिया का भी यही क्रम रहता है; क्योंकि यह शक्ति स्थूल तत्त्वों से बनती और स्थूल कार्यों में ही काम आती है।

मनोमय क्षेत्र में संयम के द्वारा संग्रहीत शक्ति प्राणमय क्षेत्र की शक्ति से कहीं अधिक सूक्ष्म होती है और उसकी क्रिया बहुत सूक्ष्म रूप से सद्‌भावनाओं के पथ में हुआ करती है। अपनी वासनाओं इच्छाओं को निरुद्ध करके जिस शक्ति को ऊर्ध्वोन्मुख रक्खा जाता है वही शक्ति दूसरों की मनःस्थिति बदल देने में समर्थ होती है। इसी शक्ति के बल पर स्वामी जी कितने ही पतित जीवों की मनोदशा को पलटकर और असत पथ से मोड़ कर सत्पथ में लगा देते थे।

इसी संयमित मनःशक्ति के द्वारा ये श्रद्धालु भक्तों की मनः स्थिति को समझ लिया करते थे। साथ ही सैकड़ों मील की दूरी पर भी अधिकारी श्रद्धालुओं को, जहाँ जैसी उचित समझते वहाँ वैसी ही शक्ति प्रदान किया करते थे, सत्प्रेरणायें देते थे। इसी शक्ति-द्वारा अपने भक्तों की भयानक परिस्थितियों एव संकटों से रक्षा करते थे, निरभिमानी इतने थे कि ऐसी सेवा-सहायताएँ करते हुए भी किसी के सन्मुख यथाशक्ति प्रगट न होने देते थे। अत्यन्त निकटवर्त्ती लोग भी, वर्षों बाद प्रकरणवश यदि कभी कुछ चर्चा उनके मुख से निकल जाती थी, तब कुछ जान पाते थे।

भक्तों अथवा तत्वनिष्ठ सन्तों में सीमित अहंकार का अभाव

रहता है। वे तो अपने आपको परमात्मतत्त्व में ही अनुभव करते हैं। उन्हे मारनेवाले और प्यार करनेवाले में एक ही परमाधार परमात्मा दीखता है। पूर्ण ज्ञानी एवं भक्त प्राकृत संघर्षमय व्यापारों से नित्य ऊपर उठे रहते हैं। उनके हृदय मे न किसी से राग होता है न द्वेष। इसीलिये तत्त्वनिष्ठ भक्तों की सहायता वह दिव्य शक्ति किया करती है जो जगत रूप अनेकता का धारण कर रही है। श्री परमहंस जी महाराज अपने द्वारा होनेवाली दूसरों की उपकार-कथा को सुनकर केवल यही कह दिया करते थे कि "परमात्मा की ओर से ही सब कुछ होता है।" जब कभी किसी भक्त पर दु:ख आता, जो कोई भी अपना दु:ख स्वामी जी के पास आकर प्रकट करता, तो ऐसा प्रतीत होता था मानो ये महानुभाव उसकी ओर से स्वयं प्रार्थना कर रहे हैं। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि किसी सन्त का संकल्प दूसरों की दु:ख-निवृत्ति के लिये हो तो उस संकल्प को पूर्ण होना ही चाहिये। यह दूसरी बात है कि किसी विशेष कारणवश वह संकल्प पूर्ण न हो पावे।

अपने शरणागतों से श्रीस्वामी जी निश्चित रूप से कभी यह न कहते थे कि अमुक कार्य की सिद्धि हो ही जायगी। वे सदैव ऐसे प्रसंगों को प्रभु की मर्जी पर छोड़ देते थे किन्तु प्रयत्न अवश्य करते कराते रहते थे।

जिला फतेहपुर शिलभी ग्राम के ठा० श्री पालसिंह जी श्री स्वामी जी के अनन्य प्रेमी भक्त थे। उनके कन्याएँ कई थीं किन्तु पुत्र न था। ये गुरुदेव की सेवा में बहुत ही उदार थे। स्वामी जी की इच्छा थी कि ऐसे भक्त के एक पुत्र अवश्य होना चाहिए। सन्त के संकल्प की पूर्ति हुई। श्रीपाल के घर में पुत्ररूप

एक जीवात्मा आया। सात आठ वर्ष के बाद वह बीमार हुआ। अनेक इलाज किये गये। स्वयं श्री परमहंस जी ने भी सात मास तक उस बालक के पास रहकर देख-भाल की और अपनी बहुत कुछ शक्ति लगाई परन्तु प्रारब्ध पर विजय न मिली।

एक दिन वह जीव शरीर छोड़कर चला गया। इसमें यह ज्ञात हुआ कि कभी-कभी प्रारब्ध-भोग इतना प्रबल होता है कि उसके आगे पुण्य प्रयत्न-शक्ति नहीं बढ़ पाती। श्री स्वामी जी ने उस पुत्र को रोकने तथा पुत्र-वियोगरूपी कर्म भोग को मिटाने के लिये ठा० श्रीपालसिंह से कितने ही पाठ-पूजन, दान-पुण्य करवाये किन्तु पूर्व कर्म भोग न मिट सका।

अन्त में उस जीव के न रहने पर फिर स्वामी जी ने एक पुत्र और होने का आशीर्वाद देकर ठाकुर साहब को सान्त्वना प्रदान की और स्वयं उस शोकाकुल परिवार से दूसरे स्थान को चले आये। कुछ दिन बाद पुत्ररूप में उन्हे फिर एक जीवात्मा प्राप्त हुआ। "कर्मणां गहना गतिः" के अनुसार यथार्थ मे कर्म की गति अति गहन है, उसकी कुछ थाह नहीं मिलती।

श्री परमहंस जी सभी पुत्रहीनों को सपुत्र होने का, सभी निर्धनो को धनवान होने का आशीर्वाद देते हों, ऐसी बात न थी, ये बड़े जोरों के साथ प्रारब्ध-भोग का समर्थन किया करते थे। हाँ, पुरुषार्थ से भोग परिवर्तन की आशा अवश्य दिला देते थे। श्री सद्गुरुदेव के सहस्रों- भक्तों मे से कुछ ऐसे भक्त भी है जो इनकी उपासना चातकी वृत्ति से आजीवन करते चले आ रहे हैं।

कुछ भक्तों को यदि इच्छित सुख के लिये वरदान मिला तो कुछ भक्तों को भक्ती के पथ में चलकर आजीवन तपस्या का

अवसर मिला । उन्हें इस तप के बदले में क्या मिलेगा, इस रहस्य को भगवान् ही जानें ।

इन सन्त के हृदय में दया इतनी अधिक थी कि बार बार वही पाप अपराध करने वाले व्यक्ति जब दुखी होकर इनकी शरण आते तो ये सदा की भाँति सहायता ही करते । ग्लानि घृणा किसी से न करते थे चाहे कोई कितना ही अपराधी क्यों न हो ।

एक साधक इन सन्त की शरण में आकर रहने लगा । कुछ समय तक उसने बहुत उग्र तप किया, जिसके परिणाम स्वरूप उस साधक में कुछ सिद्धियाँ भी आगईं और उसे यह अभिमान हो गया कि 'हम भी गुरुदेव के समान ही उच्च महात्मा हो गए ।' कभी कभी गुरुदेव के प्रति व्यङ्ग भी बोलने लगा । कुछ दिनों में ही वासना ने ऐसा पछाड़ा कि बिचारा पथभ्रष्ट होकर पागल की भाति घूमने लगा । उस साधक की विक्षिप्त दशा को अन्तर्यामी गुरुदेव ने ध्यान से देखा । उस समय ये परमहस जी असोथर में ही ठहरे थे, वहीं से आपने सेवक भक्त को बताया कि गंगातट पर अमुक साधु घूम रहा है, बहुत दुखी है । इतना कहकर कितने ही मील पैदल यात्रा करके उस साधक साधु को अपने साथ पुनः रखने की दया की परन्तु पूर्व संस्कारवश उस साधक में वह श्रद्धा वह पवित्रता न आ सकी, जिसके कारण उसकी तपस्या सफल होने लगी थी । अभिमान को तो भगवान् भी नहीं क्षमा करते । सन्त की दया होने पर भी अभिमानवश उस साधना में पतन रूपी दण्ड उसे भोगना पड़ा ।

एक बार मैंने अवसर पाकर एक व्यक्ति के विषय में स्वामी जी महाराज से पूछा—'अमुक व्यक्ति गृह-परिवार त्याग कर साधनाभ्यास करने की प्रार्थना कर रहा है, उसे आप क्यों नहीं

आ ा देते ?' श्री स्वामीजी महाराज ने तुरन्त कह दिया—'उसका तो विवाह होना है वह गृहस्थ बनेगा, साधु नहीं।' मुझे उस समय श्रीमुख के यह वचन सुनकर आश्चर्य हुआ परन्तु मैंने देखा कि कई मास तक वह व्यक्ति स्वामी जी के पास रह कर पुनः अपने घर लौट गया और कुछ वर्षों बाद ही उसका विवाह हो गया तथा विरक्त होने के बजाय वह अत्यन्त भोगासक्त और धनासक्त देखा गया। यह देखकर ही मेरी समझ में आया कि स्वामी जी उस व्यक्ति के भविष्य को पहले से ही जानते थे। यही कारण था कि उसे इन्होंने अपनी शरण में रहने की स्वीकृति नहीं प्रदान की।

यद्यपि ऊपर से वह व्यक्ति विनम्र, श्रद्धालु, सदाचारी और संयमी दीखता था परन्तु स्वामी जी ने उसके विपरीत भविष्य को देख उसे घर लौट जाने की ही सम्मति दी। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति जो आसुरी स्वभाव का दुर्व्यसनो असंयमी था और जो किसी संकट से बचने की आशा से अथवा किसी सुख के प्रलोभनवश गृहत्याग करना चाहता था उसे स्वामी जी ने गृहत्याग की सम्मति दे दी। यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि इनकी बातों का अर्थ दूसरा कोई तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि ये स्वयं न समझायें।

श्री परमहंस जी महाराज किसी से घृणा करना तो जानते ही न थे। यदि कभी कोई किसी के दोषों को उनके सम्मुख प्रकट करता तो इन्हें उस दोषी पापी के प्रति दया आ जाती थी। हमारे स्वामीजी महाराज तो किसी से भी घृणा न कर सबके प्रति सहानुभूतिपूर्वक स्नेह करते हुए सबका कल्याण ही चाहते आये। इनके निर्मल नेत्रों एवं पवित्र अधरों में तो करुणा और क्षमा प्रतिपल झलका करती थी। अनेक कल्याणार्थी व्यक्ति

अपने अपने घरबार छोड़ परमहंस जी के साथ रहने लगे।

इनकी शरण में जो कोई भी आ जाता, उसे ये भगाते न थे। सबकी भिन्न भिन्न प्रकृति थी। शङ्करजी का सा समाज बन गया था। इस समाज में कोई रोगी तो कोई खासा पहलवान, कोई शिक्षित तो कोई निरक्षर भट्टाचार्य, कोई स्वल्पाहारी तो कोई अत्याहारी, कोई फलाहारी तो कोई अपक्वान्नाहारी, कोई मौन तो कोई महावाचाल, कोई सब प्रकार के व्यसनों से कोसों दूर तो कोई संपूर्ण व्यसनों की साक्षात् मूर्ति, कोई तपप्रेमी तो कोई शृंगार-प्रेमी, कोई परमार्थी तो कोई महाप्रपंची, इस प्रकार अनेक प्रकार की मूर्तियाँ एकत्र हुई। और इन सभी प्रकार के व्यक्तियों के प्रति स्वामी जी का बहुत ही सरल स्नेह था, साथ ही कुछ अनोखा-सा व्यवहार था। स्वामी जी किसी से तो कहते 'रूखा-सूखा जो कुछ मिले, थोड़ा खाना चाहिए, गरीब दिल से सदा भजन करते रहना चाहिए' इसके विपरीत किसी से कहते 'खूब पेट भर खाना चाहिए, किसी से न दबना चाहिए, तगड़े होकर रहना चाहिए' इत्यादि उपदेश प्रकृति भेद से जिसके जो अनुकूल था वही दिया करते थे।

भिन्न भिन्न स्वाभावानुसार ये किसी साधु को तो यह शिक्षा देते कि कोई दुर्व्यसन न करना चाहिए, चरस, गाँजा, भाँग आदि न पीना चाहिए किन्तु कभी कभी किसी व्यसनी साधु को चरस-गाँजा के लिये स्वयं पैसे दिला देते थे। अपने समीप बैठे किसी साधु को एकान्त में जाकर जप करने के लिये उठा देते थे और कभी-कभी एकान्त में बैठकर जप करनेवाले साधु को नर-नारियों के समुदाय में बुलाकर बैठा दिया करते थे। इनकी सभी बातों के बहुत ही गूढ़ अर्थ थे।

श्री परमहंसजी की शिक्षा का भी कुछ अनोखा ही ढंग था।

वे किसी को शब्दों-द्वारा अधिक समझाने का प्रयास न करते थे प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरंग प्रकृति को भली भाँति समझते रहते थे, तदनुसार ही इन्हें प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-गति के क्रम का परिज्ञान था। बस उसी क्रम से हर एक के चलने का मार्ग सुलभ कर देते थे। स्वामीजी को किसी की उन्नति के आगे आनेवाला पतन प्रथम से ही दीख जाता था और किसी की पतित दशा के आगे आनेवाले उत्थान का भी दूर से ही दर्शन हो जाता था। वास्तव में समर्पित जीवन का संरक्षण और पथ प्रदर्शन अलौकिक विधि से ईश्वरीय शक्ति-द्वारा ही हुआ करता है। विरक्त तत्वनिष्ठ सन्तों अथवा समर्पित भक्तों की सेवाओं का उत्तर और उनके अनादर का उत्तर भी उसी परमेश्वरीय शक्ति की ओर से वरदान, पुरस्कार या दण्ड के रूप में मिला करता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया कि स्वामी जी ने तो भक्त की अभिलाषा पूर्ण करनी चाही किन्तु चेष्टा करने पर भी वह पूर्ण न हो सकी। जहाँ भर ऐसे भक्तों की भीड़ दिखाई देती है जिनके लिये स्वामी ने जब जैसा कहा तब वैसा ही हुआ वहाँ पर दो-एक ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि किसी-किसी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये वर्षों प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिली। कारण की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि जब किसी की अभीष्ट सिद्धि दुष्कर्मवश न होती थी तब स्वामी जी उस व्यक्ति से कुछ दान या जन-सेवा साधु-सेवा आदि सत्कार्य कराकर पुण्य-संचय कराते थे। स्वामी जी का कथन है कि "पुण्य कार्य बढ़ा देने से तथा परमात्मा का निरन्तर भजन करने से पूर्व के पाप नष्ट होते हैं। सुखेच्छापूर्ति में पुण्य साधक होते और पाप बाधक होते हैं।" जिस किसी का पुण्य-संचय पापों को नष्ट

करने की मात्रा तक न पहुँच पाता था, प्राय उसी की अभिलाषा पूर्ण न होती थी।

जहाँ पर सैकड़ो भक्त ऐसे हैं कि परमहंस जी की कृपा से अपनी कामनाओं की पूर्ति का यशोगान गाते मिलते हैं वहीं पर दो-चार प्रेमी ऐसे भी दीखते हैं कि गुरुदेव ने अपनी कृपा में कोर-कसर न रक्खी, फिर भी सेवक के अभीष्ट की सिद्धि न हो सकी।

परमहंस जी कर्मों के फल-भोग को विशेष प्रधानता देते थे, अपनी समीपता में प्रेमी श्रद्धालु जीव को लेकर उसे तप त्याग तथा दान के द्वारा शुभकर्मी बनाने का प्रयत्न करते थे।

जब निकट रहने वाला जीवात्मा इन गुरुदेव को ध्याना-वस्था में मिलता था तभी उसे भक्त मानते थे। इसके पूर्व हर एक जीवात्मा को भोग-सुख के पथ मे अन्धाधुन्ध दौड़ते हुए उसे चोर तथा माया में भूला हुआ बतलाते थे।

प्राय. निर्धन गरीब भक्त स्वामी जी की समीपता में जितनी शीघ्रता से पाप मुक्त अथवा पुण्यवान बनते थे, उतनी शीघ्रता से धनी-मानी व्यक्ति गुरुदेव के समीप रहते हुए भी उनके अन्तर ध्यान तक पवित्र होकर न पहुँच पाते थे। हमें ऐसे भक्तों का नाम नहीं प्रकट करना है परन्तु यह प्रगट है कि गुरुदेव के दया द्वार में गरीबों निरभिमानियों का प्रवेश जितनी अधिकता से हुआ उतनी मात्रा में धनिकों का मानियों का प्रयत्न करने पर भी न हो सका।

ये गुरुदेव किसी की बाह्य पूजा सेवा-सत्कार को महत्व न देते थे। इनका तो यह कथन था कि "जो जीव निर्भय होकर ध्यान में हमसे मिले उसी को हम अपना निकटस्थ भक्त मानते हैं, ऐसे भक्त की ही प्रार्थना सुनी जाती है। जो जीवात्मा

जितना ही अधिक गरीब निरभिमानी होगा, तेजस्वी और वीर होगा, वही ध्यनावस्था में हमसे मिल सकता है। जो ऐसा न होगा, उसकी वहाँ पहुँच नहीं हो सकती।" श्रीस्वामी जी प्रायः अपने श्रीमुख से ऐसा वर्णन किया करते थे।

श्री गुरुदेव की साकार मूर्ति तक प्रत्येक अधम से अधम जीव भी पहुँच सकता है किन्तु उनके दैवी मानस साम्राज्य मे तो वही मानव प्रवेश पा सकता है, जो अनेक जन्मो से सुसंस्कारी हो, श्रीसद्गुरु के प्रसाद से पुनीत होता चला आ रहा हो, जिसके जीवन मे मनोमय एवं विज्ञानमय कोप दैवी संपत्ति से धनी हो रहे हों। बस, ऐसा शिष्य ही गुरुदेव के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे चार प्रकार के भक्तो का वर्णन किया है "आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।" अर्थात्—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इस वर्णन के अनुसार श्रीपरमहंस जी के सन्मुख जितने भी भक्त आये, वे सब अधिकांश रूप में आर्त्त और अर्थार्थी कोटि के ही दीखते हैं। परमहस जी की प्रसिद्धि अधिकतर इन्ही बातों से बढ़ती गई कि नागा बाबा अत्यन्त सिद्ध पुरुष है। केवल विभूति देकर ही लोगों के रोग-दोष दूर कर देते हैं। जिसको जो कह दें, वह होकर ही रहता है। इनकी ऐसी महिमा सुनकर रोगियों की तो भीड़ ही लगी रहती थी। बहुत लोग धन की तथा अनेक नर-नारी पुत्र-प्राप्ति की आशा से ही स्वामी जी के दर्शनार्थ आते रहते थे। कुछ ऐसे भी थे, जो किसी कारणवश स्वामी जी के समीप न आ सकने पर घर से ही ध्यान करते थे। श्रीस्वामी जी सबकी सुनते और सभी को अपनी विभूति देते थे। जिनमे प्रगाढ़ श्रद्धा और दृढ़ विश्वास होता था, उनका उस विभूति से

ही भला हो जाता था। जो पूर्वजन्म के सुसंकारी जीव होते, उनके विषय में तो परमहंसजी प्रथम ही बता देते थे कि कब किसका किस रूप में संयोग होगा और कब किससे वियोग होगा।

ये अपने भक्तों पर आनेवाले संकटों की सूचना कभी सकेत-द्वारा कभी स्पष्ट रूप से प्रथम ही दे दिया करते थे। बरई, कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद आदि प्रान्तों के अनेक ग्रामों मे न जाने कितने ऐसे भक्त हैं, जो स्वामी जी के आशीर्वाद से पैदा हुए हैं और उन पर आनेवाले कठिन क्रूर ग्रहों के संकट भी स्वामी जी की कृपा से कटे हैं। यदि ऐसी घटनाओं का वर्णन किया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। आज भी परमहस जी के अनेक भक्त ऐसे हैं, जो अपने-अपने जीवन के पीछे उनकी अनोखी कृपा के द्वारा होनेवाली आश्चर्यजनक अनेक घटनाओं का वर्णन करते हैं।

किन्हीं भक्तों की जीवन-कथा से तो यह प्रगट होता है कि इस जीवात्मा के जन्म लेने के प्रथम से ही परमहंसजी इस जीव से सम्बन्ध रखते और इसे रखते रहते थे। कुछ कथाओं से यह ज्ञात होता है कि अपने निकट रहनेवाली भक्त आत्माओं के ऊपर वर्षों बाद आनेवाले पूर्व कर्मों के भोग को श्रीस्वामी जी जानते थे। किन्हीं भक्त महानुभावों के जीवन में होनेवाले आकस्मिक परिवर्त्तनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि श्रीपरमहसजी अपने योगबल से शरणागत भक्तों के अशुभ भोग में बहुत कुछ परिवर्त्तन (उलट-फेर) कर दिया करते थे।

श्रीस्वामी जी महाराज निर्धन गरीबों का अधिक ध्यान रखते थे और प्राय. उन्हीं की सेवा भी स्वीकार करते थे। ग्रामीण मनुष्य अधिकतर साधारण बुद्धि के होते ही हैं, वे लोग प्रायः महात्माओं

की उलझन ज्ञान-ध्यान की बातें नहीं समझ पाते जहाँ कहीं किसी महात्मा के विषय में सुना कि वे सिद्ध पुरुष है, उनकी विभूति से रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं, यदि किसी को प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे दिया तो धन-पुत्र सभी कुछ सुलभ हो जाता है बस इन बातों को सुनकर वे सन्त पर प्रगाढ़ श्रद्धा करने लगते है।

• श्री परमहंस जी के सैकड़ो हजारों श्रद्धालु प्रेमी हैं, उन सभी भक्तों को परमहंस जी की शरण से जो कुछ लाभ हुआ है, उसका वर्णन करना असम्भव-सा ही है। कुछ ऐसे भक्त हुए, जिन्हे स्वामी जी की निकटता का सौभाग्य विशेष रूप से प्राप्त हुआ। परमहंस जी की दया, कृपा एव शक्तिमत्ता का इन भक्तों को कुछ विशेष ज्ञान हुआ, जो कि पूर्णतया लिखा नहीं जा सकता।

सन्त की कृपा में एक विशेषता यह भी देखने में आती है कि ये जिस गृह मे पहुँच जाये, परिवार के एक व्यक्ति ने भी यदि सन्त का आश्रय पकड़ लिया तो समझ लो उसके लड़के नाती, पोतों तक श्रद्धा, सन्त-सेवा की सद्‌भावना बढ़ती चली जायगी। आध्यात्मिक संस्कार वंश-परम्परानुगत हो जाते हैं। चाहे जहाँ देखिए, जिस गृह में सन्त आने लगते हैं, घर में जो कोई श्रद्धालु होता है, उसका प्रभाव छोटे-छोटे बच्चों मे भी पड़ता है। आस-पास के अनेक मानवी प्रकृतिवाले व्यक्तियों में सद्-भावनायें जाग्रत होती है।

अपने अनेकों परिचित श्रद्धालु भक्तों के मध्य में से यहां पर हम बरई ग्राम (कानपुर) निवासी महावीर सिंह जी का उदाहरण दे रहे है। इनकी माता परमहंस जी की अनन्य श्रद्धालु भक्त थीं। इसी ग्राम की एक घटना है कि जिस काल मे परमहंस जी बाल

भाव से सर्वत्र अनिश्चित विचरण कर रहे थे, इनके नग्न वेष से कुछ लोगों को घृणा हुई वे आसुरी प्रकृति के प्राणी थे ही, एक वेश्या को कुछ द्रव्य के प्रलोभन से परमहस के साथ रात भर रहने को राज़ी कर लिया। एक दिन सन्ध्या होने के पश्चात् एक कमरे में रात्रि निवास के लिये स्वामी जी को पकड़ ले गए। पहले ही वेश्या को समझा रक्खा था, उसे कमरे के भीतर करके बाहर से द्वार बन्द कर दिया। प्रात. परमहंस जी कमरे में नहीं पाये गए द्वार की जंजीर बन्द मिली और वेश्या अर्ध विक्षिप्त दशा में अस्वस्थ पाई गई। उसने बताया कि उसने परमहंस जी का आलिंगन करना चाहा, इन्द्रिय स्पर्श किया तो नारियों की भाँति उनके अग प्रतीत हुए और वह महाभयातुर होकर बेहोश हो गई। कुछ ही दिन अस्वस्थ रहकर वह मर गई और जिन व्यक्तियों का इस काण्ड में हाथ था वे भी बड़ी ही भयानक विपत्ति से ग्रसित होकर नाश को प्राप्त हुए।

इस घटना के पश्चात् ६ वर्ष बाद साढ़ ग्राम में परमहस जी का आगमन हुआ, उस समय महावीरसिंह जी की आयु ६ वर्ष की थी माता परदे की प्रथा के कारण सहसा बाहर न निकल सकती थी परन्तु दर्शन के लिये विकल थी परमहस जी ने स्वय आकर दर्शन दिये। माता ने बालक रूप में पुत्र को शरण में डाल दिया परमहस जी ने बालक को ध्यान पूर्वक देखा और तीन ऐसी अल्पें बताईं कि माता निराश होकर रोने लगी, तब सन्त ने रक्षा का आश्वासन दिया और कुछ वर्षों के भीतर एक एक करके तीनों मरणासन्न दशाओं से कभी विभूत दे करके कभी ध्यान द्वारा बालक की रक्षा की और प्रथम ही से महावीरसिह के भिन्न भिन्न प्रकृति के पुत्र होने की भविष्य वाणी सुनाई, वैसा ही हुआ। जिस देवी के साथ महावीरसिंह का व्याह हुआ उसे भी पैदा

होने से प्रथम ही बता दिया था कि अमुक प्रकार के घर मे यह व्याही जायगी, वैसा हीं सब आगे आया। आज तक उस कुटुम्ब मे श्रद्धा भावना चली आ रही है। इसी ग्राम में शमशेर सिंह रईस आदि भी परम श्रद्धालु प्रेमी थे जिनको परमहस ही ऐसे सन्त थे जो कि श्रद्धालु प्रेमी बना सके। आज भी उस परिवार मे आध्यात्मिक सस्कार की भावना चली आ रही है।

इसी प्रकार अनेक परिवार ऐसे है जिनमें भगवान श्री राम श्रीकृष्ण की भाँति ही केवल गुरुदेव की ही आराधना उपासना चल रही है।

इस प्रकार की घटनाओं का अधिक वर्णन न करके हमे तो यह देखना है कि योगी अपनी तपःशक्ति से कितनी सरलता-पूर्वक दूसरे जीवों के भाग्यचक्र का अध्ययन कर लेते हैं। वे जन्मपत्र तथा ज्योतिष विद्या के बिना ही जीव के शुभाशुभ कर्मों तथा इष्ट अरिष्ट ग्रहादिको को जान लेते हैं। पुण्य कर्म करवाकर तथा स्वयं ध्यानयोग-द्वारा उनका शमन भी कर देते हैं।

एक बार पाली-निवासी भक्त माता जी सपरिवार स्वामी जी को साथ लेकर सक्रान्ति पर्व पर गंगा स्नान करने के लिये जाज-मऊ गई। साथ में यह लेखक भी था। स्वामी जी गगा की रेती मे बैठ कर भोजन कर रहे थे। उसी स्थिति में सहसा बोल उठे "बच गया!" पास में बैठी हुई माता जी आदि ने सुना और पूछा—'महाराज क्या है? कौन बच गया?' स्वामी जी ने स्पष्ट कुछ न कह कर सकेत मात्र से ही प्रयागराज के सगमस्नान के समय अपने भक्त शिष्य पर आई हुई संकट की बात कही और मौन हो गये। फिर अधिक कुछ और पूछने का किसी को साहस न हुआ। बाद में पता चला कि स्वामी जी के एक शिष्य नाव

पर जा रहे थे। नाव भयानक भँवर में पड़ गई थी। मल्लाह भी घबरा गये थे। शिष्य ने अत्यन्त भयातुर होकर श्री गुरुदेव का स्मरण किया। उसे वहाँ वह चमत्कार दीख पड़ा मानों किसी शक्ति ने धक्का देकर उस भयानक भँवर से नाव को निकाल दिया हो। उसी समय जाजमऊ में बैठे हुए श्री स्वामी जी के मुख से 'बच गया' ये शब्द निकल पड़े थे।

श्री स्वामी जी महाराज को भक्तजन जब अपनी दुःखनिवृत्ति की आशा से अपने घर चलने के लिये विवश करते तब स्वामी जी यही कहा करते थे कि इस शरीर को ले चलने से कोई लाभ नहीं, हृदय से ध्यान करो। ध्यान से सब कुछ सुना जाता है। ध्यान में यदि जीव की प्रार्थना सुनाई पड़ेगी तभी सब काम पूरा हो जायगा। ध्यान में जब तक जीवात्मा से भेंट नहीं होती तब तक वह पहिचाना नहीं जा सकता। ध्यान के द्वारा ही जीवात्मा निकटता प्राप्त करता है।

सन्त का ध्यान-योग

प्रत्येक साधक शिष्य को ध्यान का महत्व भली प्रकार समझ लेना चाहिए। वास्तव में ध्यान की गम्भीरता तथा दृढ़ता मे ही ध्येय वस्तु का योग सम्भव है। बहुधा कुछ साधक शरीर को एक आसन में स्थिर करके नेत्र बन्द कर लेने की क्रिया मात्र को ध्यान मानते हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर तथा इन्द्रियों की निष्क्रियावस्था मात्र से ध्यान नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत इससे भी आगे मन की बिखरी हुई वृत्तियों का ध्येयाकार में केन्द्रित हो रहने का नाम ध्यान है। अथवा एक की ही अभिलाषा को लेकर मन जब निर्विषय होकर उस एक ही में तल्लीन हो रहता है, बस मनकी उस दशा को ही ध्यान कहते हैं। ध्यान वही है, जो भुलाने की चेष्टा करने पर भी भुलाया न जा सके। ऐसा ध्यान तभी संभव है जब ध्येयरूप के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हो और वह प्रगाढ़ प्रेम तभी होता है जब प्रेमास्पद के योग की प्रबल अभिलाषा हो। जितनी ही अधिक किसी से मिलने की आवश्यकता प्रबल होती है उतनी ही उसके प्रति आसक्ति दृढ़ होती है तथा आवश्यकता एव आसक्ति के अनुरूप ही ध्यान दृढ़ होता है। सुदृढ़ ध्यान मे ही प्रियतम को आकर्षित करने की शक्ति होती है। सारांश, केन्द्रीभूत शक्ति का एक ही वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना ही ध्यान की तीव्रतर या तीव्रतम प्रगति है, जो कि ध्याता की अभिलाषा पूर्ण होने तक चलती ही रहती है।

यह तो हुई सच्चे प्रेमी के ध्यान की बात। किंतु जहाँ किसी की महत्ता, गुण, ऐश्वर्य, शक्तिमत्ता की चर्चा सुन कर उससे

मिलने की जिज्ञासा इच्छा होती है और उसे पाने के लिये मन को अचचल वनाने की जो विधियाँ काम मे लाई जाती हैं, उसे ध्यानाभ्यास ही समझना चाहिए, ध्यान की स्थिति नहीं। वियोग अथवा अभाव की अवस्था में ही ध्यानाभ्यास आरम्भ होता है, पश्चात स्मरण-चिन्तन की दशाओं को प्राप्त करते हुए यथार्थ ध्यान की अवस्था आ जाती है। ज्ञान के अनुसार ही ध्यान होता है और ध्यान के तारतम्य-द्वारा ही प्रेम की माप होती है। प्रार्थना, पाठ, कीर्तन, जप, स्मरण आदि साधन ध्यान की दृढ़ता के लिये ही आवश्यक होते हैं।

ज्ञान से बुद्धि व्यवस्थित होती है और ध्यान से स्वयं को अभिन्न योगानुभव-द्वारा परम शान्ति प्राप्त होती है। यदि योगी महापुरुष का ध्यान अपनी ओर खींचना है तो एकमात्र उसका उपाय मन की समग्र शक्ति से बुद्धिपूर्वक ध्यान ही है। इसलिये परमहस श्री नागा निरंकारी जी महाराज अपने भक्तों को भीतर से ध्यानयोग की प्रेरणा दिया करते थे क्योंकि उनकी अहैतुकी कृपा जिस स्थान से काम करती थी, उस स्थान में आंख, कान, वाणी आदि के द्वारा किसी की पहुँच नहीं हो सकती। वहां तो कोई ध्यान के द्वारा ही अपनी महदाकांक्षा की पुकार पहुँचा सकता है और तभी महती दया का ऊपर से उत्तर मिलता है।

श्री गुरुदेव के भौतिक शरीर के समीप रहकर जिस कृपा का अनुभव समीपवर्ती शिष्य न कर सके, उस कृपा का अनुभव आज उनके भौतिक शरीर के भूमि पर न रहने पर भी ध्यान-योग के द्वारा प्रेमी भक्त कर सकते और कर रहे हैं। जब कभी हम लोगों ने अपनी-अपनी साधना के विषय में स्वामी जी से प्रश्न किया तब वे यही उत्तर देते थे कि "ध्यान में देखें तो पता चले।" इनका प्राय यही निश्चित वाक्य हम सुना करते थे—

"जीवात्मा से जब कचहरी मे भेंट होती है तभी पास या दूर, साधु या चोर का पता चलता है। तब हम लोगों को स्वामीजी के इस वाक्य का अर्थ समझ में न आता था किंतु अब उसके अर्थ स्पष्ट हो रहे हैं। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा अपने ऊपरी रंग से, बाह्य शब्द-सौन्दर्य अथवा सभ्यता-शिष्टाचार से अपने को जैसा कुछ दिखाता है, प्राय: वह उसका सच्चा रूप नहीं होता।' बाह्य और आभ्यंतर रूप में बहुत भेद रहा करता है। जीवात्मा कितना कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, ईर्ष्यालु तथा अभिमानी है, इन बातों को वह बाहर से प्राय: प्रकट नहीं होने देता किन्तु उसके सूक्ष्म शरीर के रंगों से उसके सारे गुण-दोष प्रगट हो जाते हैं। भुवर्लोक में कोई भी जीव अपनी दोषी प्रकृति को नहीं छिपा सकता क्योंकि प्रत्येक गुण और दुर्विकार के भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग हुआ करते हैं और वे जीवात्मा के शरीर के साथ ही रहा करते हैं। जिसका स्वाभाव सुन्दर है, सात्विक गुणों से सुसज्जित है उसके सूक्ष्म शरीर का रंग अत्यन्त ही सुन्दर मनोहर एवं स्पष्ट होता है किन्तु जहां न्यूनाधिक विकार मिश्रित है, जिसमें दोष वर्त्तमान हैं उसके शरीर में जो रंग दीखते है वे मटमैले भद्दे और असुन्दर होते है। सुन्दर या असुन्दर गुण स्वभाव के अनुरूप ही सूक्ष्म-शरीर की आकृति दीखती है। योगीजन दिव्यदृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा के अन्तरंग शरीर को देख लेते हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्विकारों के रंग भिन्न-भिन्न या एक दूसरे के साथ मिश्रित दीखते है इसी प्रकार निष्कामभाव, दया, उदारता, प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, भक्ति, ज्ञान आदि सद्गुणों के रंग भी भिन्न-भिन्न या मिश्रित दिखाई पड़ते हैं। प्रेमी पाठकों ने प्राय. चित्रों में देखा होगा कि अव-

तारों की दिव्य मुखाकृति के चारों ओर अथवा महान् पुरुषों के शरीर के चारों ओर सुनहले पीले रंग को, नीले हरे, कासनी गुलाबी एवं बैंजनी रंग की किरण-राशि छिटकी हुई सी दीख पड़ती है। ये सब रंग सात्विक दैवी गुणों के हैं। इसके विरुद्ध आसुरी प्रकृति के शरीर में गहरा लालरङ्ग, भूरा, मटमैला, कालिमा लिये हुए मिश्रित रङ्ग दीखता है जो उसके क्रोध लोभादि दोषों के कारण होता है। दैवी, आसुरी अथवा पशु-प्रकृति वालों की मुखाकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। सूक्ष्म शरीर के सुन्दर रूप तथा रङ्ग से ही उसकी दैवी गुण-सम्पन्नता स्पष्ट हो जाती है और असुन्दर भयानक रूपों से आसुरी अथवा पाशवी प्रकृति का परिचय मिल जाता है।

श्री परमहंसजी जीवात्मा को पहचानने जानने के लिये जो कचहरी में भेंट होने की बात कहते थे, उसका सम्बन्ध इसी सूक्ष्म शरीर से था जो कि अन्तर्लोकों के द्रव्यों का बना होता है। परमहंस जी दिव्यदृष्टि के द्वारा ध्यान में इसी सूक्ष्म शरीर को देख कर मनुष्य की अन्तर प्रकृति को जान लेते थे।

निरन्तर शुद्ध का स्मरण चिन्तन ध्यान करते रहने से मनुष्य का सूक्ष्म शरीर पवित्र हो जाता है, उसका रूप बहुत ही सुन्दर हो जाता है। मनुष्य जैसा चिन्तन या ध्यान करता है वैसा ही बनता जाता है।

प्रबल आध्यात्मिक सामर्थ्य रखनेवाले प्रशान्त-चित्त स्थिर बुद्धिवाले सन्त का ध्यान करने से साधक में अद्भुत शक्ति आने लगती है। जिस प्रकार किसी शक्ति-सम्पन्न पदार्थ से जब दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध होता है तब उसमें भी वही शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार शक्ति-सम्पन्न महात्मा का ध्यान करने से

अर्थात् उनके साथ मानसिक योग स्थापित होने से उनकी शक्ति ध्याता को मिलती रहती है।

चचल मन से ध्यान नहीं सध सकता। मन को रोकने के लिये किसी प्रकार की विशेषता का मनन आवश्यक है। सन्त का ध्यान करने के लिये उनकी दया क्षमा सहानुभूति आदि सद्गुणों का चिन्तन करना आवश्यक है। संकल्पों की अधिकता से शक्ति बिखरती रहती है और संकल्पों के रोकने से शक्ति संचित होती है। इन ध्यानयोग की सिद्धि के लिये ही कोई भगवान् के दिव्य साकार रूप का चिन्तन करते है, कोई मानसिक पूजा करते हैं, कोई शरीर के भीतर आज्ञाचक्र या हृदयचक्र में सुरति स्थिर करते है, कोई नादानुसन्धान के द्वारा चित्त को लय करते है। जिसके लिये जो उपाय सुगम हो, वही करना चाहिये।

सन्त के साथ तो उस समय भी ध्यान-द्वारा, सम्पर्क हो जाता है जब किसी बहुत बड़े दुःख के दूर हो जाने की सन्त से आशा होती है या फिर प्रगाढ़ प्रीति होने पर भी सन्त से ध्यान-योग दृढ़ होता है। ध्यानयोग की सिद्धि तभी समझना चाहिये जब बिना प्रयत्न के ध्यान होता रहे और किसी बाह्य कारण से भले ही नहीं—इस प्रकार के ध्यानयोग से सन्त की कृपाशक्ति को साधक निरन्तर प्राप्त करता रहता है।

सन्त का त्याग

संसार में यदि किसी को सर्वोपरि लाभ अथवा सर्वोत्कृष्ट सिद्धि या परम शान्ति प्राप्त हुई है तो त्याग के द्वारा हुई है। मानव का यथार्थ ज्ञान त्याग के ही द्वारा नापा जा सकता है। परमात्मा के अतिरिक्त जो लौकिक या पारलौकिक इच्छाओं का त्याग करता है वही सन्त पद को प्राप्त होता है। संसार में धन की इच्छा, रूप रसादि भोगों की इच्छा, उच्च पदाधिकार अथवा मान की इच्छा ही संसार से बांधती है और इन सबके त्याग से ही संसार से मुक्ति मिलती है।

श्री स्वामी जी महाराज के जीवन में जो उत्कृष्ट तप के साथ उच्चतम त्याग का दर्शन मिलता है वह त्याग इतने में ही सीमित नहीं है कि स्वामी जी गृह आदि सम्पत्ति को छोड़ वनस्थ होकर रहे। स्वामी जी ने समस्त कामनाओं का भी त्याग किया था। कामनारहित त्यागी की सेवा करने के लिये संसार की बड़ी-से-बड़ी विभूतियाँ पीछे पीछे चलती हैं और किसी प्रकार की इच्छा का स्फुरण होते ही उसकी पूर्ति करने के लिये अनायास ही तत्पर रहती हैं परन्तु श्री परमहंस जी महाराज के मन में कोई व्यक्तिगत वासना एवं भोग कामना का स्थान न रह गया था। इनके जीवन में दैवी शक्तियों का स्वराज्य स्थापित था इसीलिए ये सदैव शुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आत्मा परमात्मा में परम तृप्त थे। इसी कारण इनके हृदय में कोई इच्छा न थी, किसी वस्तु के प्रति लोभ, मोह तथा ममता न थी। तब क्रोध, कठोरता, कटुता, द्वेष, छल आदि दोषों को स्थान ही कहाँ मिल सकता था। संसार के विद्वान् ज्ञानी पुरुष

उसे ही परम श्रेष्ठ मानते आए हैं जिसने संसार की आशा, तृष्णा एवं इच्छा मात्र का त्याग किया है।

त्याग के साथ ही तेज है, सत्कार है, सुख है, शान्ति है। आनंद और मोक्ष भी त्याग से ही मिलता है।

परमहंस जी ने सांसारिक सुखों तथा अपने सुख के लिये दूसरों की ओर से होनेवाली अपनी सेवाओं का सदैव त्याग किया। ये स्वयं मन-वाणी से ही नहीं वरन् अपने शरीर से भी सेवा पात्र मिल जाने पर सेवा किया करते थे।

श्री स्वामी जी ने उस मोह-माया का एकान्त रूप से त्याग कर दिया था, जिसकी परिधि में विषय-विमोहित असंख्य प्राणी सुख से तृप्त होने की आशा से अगणित दुःख भोग रहे हैं।

श्री परमहंस जी ने उस वासना का भी त्याग कर दिया था जो सांसारिक वस्तुओं तथा विविध विषय-भोगों की क्रियाओं के त्याग कर देने पर भी उसी प्रकार मन में बसी रहती है जिस प्रकार खटाई निकाल देने पर भी खटाई के पात्र में खटाई की बास (गन्ध) बसी रहती है।

तपस्वी पुरुष भोगों का त्याग कर देने पर भी जब तक ज्ञानपूर्वक वासना का त्याग नहीं कर पाते तब तक हजारों वर्ष उग्र तप करने पर भी उसी प्रकार भोग सुखों मे पतित हो सकते हैं जिस प्रकार महर्षि विश्वामित्र हजारों वर्ष तप करते हुए भी वासना शेष रहने के कारण संयम-सिद्धि से विचलित हो गये थे। वही फिर कालान्तर में पूर्ण त्यागी होने पर ही ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त कर सके।

त्याग वह दिव्य पथ है जो तृष्णा के तल से आरम्भ होता है और परम शान्ति-धाम सत्य में जाकर समाप्त होता है।

वास्तविक त्याग किसे कहते हैं, यह तो विवेकी पुरुष ही

जानते है। वहुत से मनुष्य ऐसे है जो घर छोड़कर भीख मांगनेवालों को, जगल मे कुटी वना लेनेवालों को, सिले कपड़े पहिनना छोड़ देनेवालों को अथवा किसी विशेष प्रकार के साधु वेश धारण कर लेनेवालों को ही त्यागी समझ लेते हैं। परन्तु वास्तविक त्याग इन ऊपरी वेषभूषा मात्र से सिद्ध नहीं होता, सच्चा त्याग तो भीतर से होता है।

वास्तव में सच्चा त्यागी वही है जो संसार की किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, जो किसी भी शरीर से यहाँ तक कि अपने शरीर से भी ममता नहीं रखता। आदर्श त्यागी वही है जो शरीर की सभी अवस्थाओं तथा मन की सभी दशाओं को अपने ऊपर न ओढ़ कर उन सबसे ऊपर उठे रहकर उन्हें दूर से देखता रहता है। बन्धन-मुक्त त्यागी वही है जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के वशवर्ती न रह कर उन्हें अपने स्वाधीन बना लेता है। ससार में पूर्ण त्यागी स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। रागी तो सदा परतन्त्र पराधीन होता है।

दूसरों से मिलनेवाले मान का त्याग न कर सकने के कारण ही प्रत्येक मनुष्य कितना चिन्तित रहता है, कितनी आवश्यकतायें बढ़ाता जाता है, न जाने कितनी वस्तुओं का सग्रह करता है।

विशेष प्रकार के वस्त्रों की चिन्ता, भोजन की चिन्ता, छड़ी छाता जूता की चिन्ता, कमरा, कुरसी, मेज, बिछौना की चिन्ता, विशेष प्रकार की सजावट की चिन्ता, शृङ्गार की चिन्ता, दूसरों के द्वारा मान प्राप्त करने के ही कारण तो करनी पड़ती है। दूसरों के द्वारा सुख और सुखद वस्तु की प्राप्ति के लिये तो न जाने क्या क्या करना पड़ता है, क्या क्या बनना पड़ता है।

हमारे सन्त जो सदा निश्चिन्त निर्भय स्वाधीन रहते थे इन्हें तो लँगोटी पहनने की भी चिन्ता न थी, इनके मन में कभी यह

प्रश्न क्यों उठेगा कि अमुक व्यक्ति आता है तो ऐसा वस्त्र पहिन लेना चाहिये, यह शृङ्गार कर लेना चाहिये, अमुक स्थान साफ-सुथरा कर लेना चाहिये—इत्यादि। ये तो सदा निश्चिन्त शान्त ही रहते थे। इसीलिये कि यह पूर्ण त्यागी थे।

पूर्ण त्यागी वही है, जो सुखोपभोग की तृष्णा का त्याग करता है एवं सुखद वस्तुओं के संग्रह का भी त्याग करता है। इसी प्रकार लोभ, मोह, अभिमान का पूर्ण त्याग कर अन्तस्थल में जहाँ विषयों की वास आती रहती है उस वासना के पात्र का ही त्याग करते हुए अन्त में सीमित अहंकार का भी त्याग कर देता है।

श्री सन्त सद्गुरु नागा निरकारी जी में इसी प्रकार का पूर्ण त्याग देखा गया। बाल विरागी परम त्यागी होने के कारण ही इनमें शान्ति तो मूर्तिमान सी थी, जिसका अनुभव सभी समीपस्थ व्यक्तियों को होता रहता था। जब तक तप के साथ पूर्ण त्याग नहीं होता तब तक उसके द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रायः अभिमानपूर्वक भोग ही होता है। यथार्थदर्शी पुरुष त्यागहीन तप को आत्मपीड़न की निरर्थक क्रिया के अतिरिक्त कुछ विशेष महत्व नहीं देते। जो तपस्वी होने के साथ त्यागी भी है वही तप के द्वारा प्राप्त शक्ति का भोगी न होकर इस शक्ति से दूसरो को हितप्रद सुख पहुँचाते हुए तथा सच्ची सेवा करते हुए स्वयं परम शान्ति का योगी होता है।

श्री गुरुदेव जी महाराज पूर्ण त्यागी एवं विरक्त होने के कारण ही अपने तप की शक्ति से सदा शरणागत दीन दुखियों एवं पीड़ितों की सेवा-सहायता करते रहे। संसार में दूसरों की सेवा सहायता वही करता है जो दूसरों से अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता और वही मनुष्य किसी से कुछ नहीं चाहता जो कि

निष्काम है। यह सच्ची निष्कामता ही त्यागी को पूर्ण तृप्ति प्रदान करती है।

सन्त सद्‌गुरु देव की ससार-सेवा बाह्य ऐश्वर्य पर निर्भर न होकर उनकी आन्तरिक सयम की सफलता एवं पूर्ण त्याग-द्वारा प्राप्त दिव्य शक्ति से हुआ करती है। श्री परमहंसजी के उच्चतम त्याग को देखने से सहज ही यह पता चल जाता है कि इनमें कितना गम्भीर ज्ञान था क्योंकि पूर्ण त्याग ही सच्चे ज्ञान की कसौटी है। ज्ञान का अर्थ केवल वेद शास्त्रों को कण्ठस्थ कर लेना मात्र नहीं है वरन् उनमें बताई गई भक्तिप्रद एवं मुक्तिप्रद नीति-रीति और परहितकारी प्रीति को अपने समग्र जीवन में आचरित करना है।

वास्तव में अपने को, विश्व को और विश्वपति को जानने का नाम ही ज्ञान है। जो अपने स्वरूप को जान लेगा, वह देहादिक पराधीन वस्तुओं के प्रति ममता-मोह नहीं रख सकता। जो विश्व को जान लेगा, वह विश्व की अनित्य सुखद वस्तुओं का रागी नहीं रह सकता। इसी प्रकार विश्वपति को जान लेने पर सर्वभावेन उनका अनुरागी हुए बिना भी कोई नहीं रह सकता। जगत से दूर हटकर अर्थात् निरासक्त त्यागी होने पर ही जगत् के वास्तविक रूप का ज्ञान होता है और जगदाधार सत्य का योगानुभव होने अर्थात् एकमात्र सत्य के ही प्रेमी होने पर सत्य का तत्वतः परम ज्ञान होता है।

श्री स्वामी जी महाराज पूर्ण त्यागी होने के कारण ही यथार्थ ज्ञानी हैं और ज्ञानी होने के कारण ही पूर्ण प्रेमी हैं।

अनेक नामरूपमय जगत की अनेकता के अनेक गुण-दोषमय त्रिगुणात्मक प्रभाव को प्रपच के एक अन्तरूपी एकान्त की आवश्यकता होती है। हमारे श्री स्वामी जी महाराज ऐसे एकांत

में रहते हुये नाम-रूपमय की अनेकता के प्रभाव से अपने को मुक्त कर चुके थे। जब वे एकान्त मे अपने को अपना कुछ भी न मान कर एक को ही सर्वस्व जानते थे, अपने में से अनेक को निकालकर एक को ही देख रहे थे एवं अनेक से असंग होकर एक परम तत्त्व के ही योगी हो चुके थे तब फिर इन्हे एकान्त स्थान की आवश्यकता ही क्या थी ?

किसी भी साधन का उपयोग साध्य की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। साध्य प्राप्त कर चुकने पर साधन को सुरक्षित रूप में रख दिया जाता है और सिद्धपद में विश्राम किया जाता है। श्री परमहंस जी महाराज का पूर्वार्ध जीवन साधन समर में ही व्यतीत हुआ। अब उत्तरार्ध जीवन सिद्धपद में प्रतिष्ठित होकर केवल विश्राम के लिये था, ऐसी दशा में इन्हे तप की क्या आवश्यकता थी ?

शरीर इन्द्रिय मन प्राणादि किसी भी क्षेत्र की निर्बलता मे शक्ति संचय करने के लिये ही तो तप किया जाता है क्योंकि शक्ति-प्रवाह के ऊर्ध्वोन्मुख करने की संयम-विधि का नाम ही तप है एवं अटूट धैर्य सुदृढ़ सहिष्णुता के लिये वाहर-भीतर शक्तिशालीनता ही तप की सिद्धि है। यह सिद्धि स्वामी जी पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुके थे। अब इन्हें त्याग करना भी क्या शेष रह गया था ? संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति को तथा प्रारब्धजनित शरीर की किसी भी अवस्था को अपना न मानना ही तो त्याग है। अथवा सभी प्रकार की वासनाओं, इच्छाओं एवं संकल्पों को अपने में से निकाल देने का नाम ही तो त्याग है। नित्य निर्भयता तथा अबाधित शान्ति ही तो त्याग का फल है जिसे स्वामी जी प्राप्त कर चुके थे।

अब इन्हें धारणाभ्यास की भी क्या आवश्यकता थी ?

चंचल चित्त को शरीर के किसी एक केन्द्र विशेष में हठात् नियोजित करना ही तो धारणा है और योगसिद्धि के लिये अविचलित भाव से अपने भीतर स्थिर होना ही धारणा की सिद्धि है जिसे स्वामी जी अनायास ही सिद्ध कर चुके थे।

इस परिस्थिति में इन्हे ध्यानावस्थित रहने की क्यों चेष्टा करनी पडती? ससार के सुखद या दु.खद पदार्थों का ध्यान मिलने के लिये ही सत्य परमात्मतत्त्व में अथवा आत्म में चित्त को तल्लीन रखना ही तो ध्यान है और चित्त की निर्विपर्ययावस्था अथवा वृत्ति की ध्येयाकार दृढ़ता ही ध्यान की पराकाष्ठा है जो कि स्वामी जी की सहज स्वाभाविक स्थिति बन गई थी, जिससे ये कभी पृथक् होते ही न थे।

श्री नागा जी परमहस पद में प्रतिष्ठित होकर उसी परमहस दृष्टि से विश्वमय विश्वाधार को देखते थे और परमहंस वृत्ति से विश्वाधार सत्य के अविभक्त रहकर विश्व में विचरते थे। श्री स्वामी जी महाराज नित्य सहज समाधिस्थ रहकर प्रशान्त आनद का आस्वादन करते थे। इनको वह सहज समाधि ऐसी थी, जिसमें आँखें बन्द नहीं करनी पड़ती थीं। जिसमें इन्द्रिय-दमन तथा मनोनिरोध का प्रश्न ही शेष न रह गया था। वहाँ तो बुद्धि भी मौन हो चुकी थी। ये तो मन-बुद्धि को यन्त्रों की भाँति अलग ससार की सीमा में एकान्त छोड़ अकेले होकर ऐसे स्थान में रहते थे जहाँ का पता लगाने में बुद्धि भी असमर्थ थी। तब भला किस आधार पर वर्णन किया जाय?

जिनके उत्कृष्ट तपोमय जीवन में भूमि ही शैया थी, विभूति राशि (राख का ढेर) ही तकिया तथा बिछौना था, वृक्षों की छाया ही शीतल गृह था, विभूति ही शरीररक्षक वस्त्र था, तथा सघन वन प्रांतर एवं कटीली झाड़िया ही जिनकी मनो-विनोद-

प्रिय सहेलियां थीं और निर्जन स्थान ही जिनके मित्र एवं संगी थे, उन्हीं परम योगिराज श्री परमहंस जी महाराज के उत्तरार्ध जीवनी की अद्भुत झांकी अब प्रेमी पाठकों को दिखाई जा रही है।

श्री परमहंस जी महाराज को जब तप से शक्ति-सपन्नता, त्याग से नित्य शान्ति और तत्वज्ञान से जीवनमुक्ति प्राप्त हो गई तब इस अवस्था में यदि कोई इन्हे विविध शृंगारिक वस्तुओं से सुशोभित मनोहर महलों में बुलाकर बिठा देता तब ये वहीं रम जाते थे। उन महलों की वह विलास-सामग्री इन्हें तिल भर भी बाधक अथवा मोहक न प्रतीत होती थी। अब इन्हें सुन्दर कोमल गद्दों तकियों से समलंकृत पलग पर बैठना भी अस्वीकार न था क्योंकि भोगों में सुख की वासना सदा के लिये विलीन हो चुकी थी। इस अवस्था में जो जहाँ चाहता, इन्हें ले जाता था और ये चले जाते थे। घर और वन का भेद इनमें न रह गया था। नरनारी शरीरों के प्रति लिंगदृष्टि से देखना तो ये न जाने कब के भूल चुके थे। युवतियों के शरीरस्पर्श का पुरुप पर कुछ वासनात्मक प्रभाव पड़ सकता है परन्तु परमहंस जी इसे तो जैसे जानते ही न थे। इनकी नग्न निर्दोष काया को चाहे कोई बालक धोवे तो और परमरूप लावण्यमयी कोई सुन्दरी धोवे तो— इनके मन को माया कभी छू न पाती थी।

श्री परमहंस जी महाराज का अपने भक्तों के प्रति यही उपदेश है कि दया-धर्म का आश्रय लेकर भजन किये जाओ, हजारों जन्मों के कर्मभोग जीव को घेरे हुए हैं। अगणित पुण्य-पाप हैं। वे आत्मज्ञान एवं भगवद्भक्ति से ही क्षीण हो सकेंगे। दो-चार जन्म इसके लिये धारण करना पड़ें तो सस्ता समझो। अच्छे-अच्छे सिद्ध पुरुषों को भी संसार के अनेक ऋणों

को अदा करने के लिये किसी को सात, किसी को तीन जन्म तक धारण करने पड़ते हैं।

परमहंस श्री नागा जी के इस जीवन का प्रथम भाग तो प्राय परिभ्रमण में ही हम लोग अपरिचित ही हैं। फिर भी कुछ चरित्र तो परमहंस जो द्वारा विदित हो ही चुका है, जिसका वर्णन किया गया है। उनके जीवन का मध्य भाग उत्कृष्ट तपस्या में व्यतीत हुआ, जिसका विशेष सम्बन्ध उत्तर प्रदेश और अधिकतर असोथरराज्य से ही है। इसी प्रकार उनके जीवन का अन्तिम भाग सहजावस्था में ही रहते हुए साथ ही शक्तियोग से दूसरों की सेवा करते हुए व्यतीत हुआ। इस भाग का विशेष सम्बन्ध पाली ग्राम से है। यहीं पर योगि-राज ने अपने जीवन की ऐहिक यात्रा समाप्त की।

सन्त की जितेन्द्रियता

वास्तव में इन्द्रियों को जीते बिना योगमार्ग से प्रगति हो ही नहीं सकती क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही शक्ति की गति अधोमुखी रहती है। विविध विषय-पथ से प्रवाहित शक्ति को रोकने के लिए उसे ऊर्ध्व दिशा में परिवर्तित करने के लिये बांध लगाना होता है। जितनी ही धारा की गति तीव्र होगी, उतनी ही कठिनता से वह रोकी जा सकेगी।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पांचों इन्द्रियो के विषयो में सुख भावना से जितनी ही अधिक आसक्ति होती है उतना ही अधिक शक्ति का ह्रास होता है। इस शक्ति-ह्रास के अनुसार ही प्राणी अधिकता के साथ विषयजनित सुखों में आसक्त होकर दीन तथा दरिद्र होता है। इसीलिये कहा है—"कृपणो योऽजितेन्द्रियः।" 'जो इन्द्रियों को नही जीत सकता वह कृपण है।'

श्री स्वामी जी इस जन्म मे आरम्भ से ही बाल विरागी रह कर विचरे। ये भोग सुखों के लिए विषयों के क्षेत्र मे उतरे ही नहीं। इन्हें विषय-रसास्वादन का अवसर हो नही मिला। इनका तपोमय जीवन शरीर की युवावस्था के अन्त तक अधिकाधिक ऐसी साधना में व्यतीत हुआ, जिसमें ब्रह्मात्मैक्य ध्यान के अतिरिक्त मन के जाने के लिये दूसरी ओर कोई मार्ग ही न रह गया था। ये तन मन की इच्छाओं से सदा ऊपर ही उठे रहते थे। इन्द्रियो को वश मे रखने का तो इनके सन्मुख कभी प्रश्न ही न उठा होगा क्योंकि इन्द्रिय-जय तो वहाँ किया जाता है जहाँ इन्द्रियां बलवती होकर जीवात्मा को बलात्कार से भोग-

जनित सुखों के पथ में खींचती रहती हैं। स्वामी जी के जीवन में कभी ऐसी स्थिति आई होगी, इसकी कहीं शंका ही नहीं होती।

जितेन्द्रिय हुए विना, सदाचारी हुए विना सत्य की सहज रूप में अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। सन्त सद्‌गुरु शिवत्व (सदाचार) की साक्षात मूर्ति हैं।

जीव को सासारिक वस्तुओं के दासत्व में बाँधनेवाला एकमात्र प्रबल शत्रु काम ही है। कामनापूर्ति के दुःखद परिणाम को न जाननेवाले मूढ जीव ही काम के वशीभूत होते हों, ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो विनाशकारी भयानक परिणाम को जानने-वाले मनुष्य भी काम से पराभूत होते रहते हैं। यह काम ही तो मानव को लोभी, मोही, ईर्ष्यालु और क्रोधी बनाता रहता है। कामनापूर्ति के सुख मे तृप्त होने के लिये ही मनुष्य आजीवन बडे-से-बड़े प्रपंच-भार का ढोता हुआ व्यापार-विस्तार में अत्यधिक व्यस्त रहता है।

काम-वासना पर विजय प्राप्त करना, ऊर्ध्वरेता होना साधारण तपस्वी विद्वान व्रती के वश की बात नहीं है। किसी सर्वोपरि वीर महापुरुष में ही ऐसी योग्यता देखी जाती है जो कामजित हो। परमार्थी साधक कहीं भी कामवासना के वशीभूत न हो। इसीलिये इससे बचाव के लिये नाना प्रकार के नियम शास्त्रों में बताये गये हैं। "साधक को सजीव स्त्री के दर्शन की बात तो दूर रही, काठ की नारी-मूर्ति का भी दर्शन न करना चाहिए। सदा अपने नेत्रों की दृष्टि नीचे की ओर ही रखनी चाहिए। मन अत्यन्त नीच प्रकृति का है। वह भोग-सुखों की कामना से प्राय. कलुषित है अतएव अपनी माता, पुत्री, भगिनी आदि के साथ भी अकेले कभी एकान्त में हास्य संभाषण आदि न करना चाहिए।" ऐसी श्रुति की आज्ञा है परन्तु जो सिद्ध

पुरुष हैं उनकी नीति रीति विलक्षण है। जिस प्रकार एक पाँच वर्ष का बालक कमनीय कलेवरा कामिनी के वक्षःस्थल पर खेलते हुए तथा उसके सौन्दर्य का मनन न करते हुए भोगबुद्धि से शून्य होने के कारण ही निर्विकार भाव से निःसंकोच निर्भय तथा निष्काम रहता है, उसे कहीं भी नारी में सौन्दर्य की मोहकता नहीं दीखती इसी प्रकार स्वामी जी महाराज ऐसे बालयती थे कि सदा नग्न रूप में ही जैसे वे निर्जन वनों में पशुओं वृक्षों और कण्टकाकीर्ण झाड़ियों के बीच विचरते रहे वैसे ही वे राज-महलों, धनपतियों के सुरम्य भवनों तथा बड़े-बडे नगरों की गलियों में भी हजारों सुन्दरियों के परम श्रद्धास्पद सेव्य बनकर निर्विकार बुद्धि एवं पवित्र चित्त से विचरते रहे। सुन्दर युवती में मन को मोहनेवाली कोई वस्तु होती है—इस भेद को जैसे वे जानते ही न हों ऐसी चेष्टा से ही श्री स्वामी जी नारी-समाज में बैठने उठने हँसने-खेलने में निःसंकोच रहते थे। इनके मन में कभी स्वप्न में भी दुर्वासना-विकार की उत्पत्ति होती थी—इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

श्री परमहंस जी सदा नग्न रूप में बालकों की भाँति सरल स्वभाव से बालक-बालिकाओं एवं नारियों के बीच हँसते-खेलते बैठते और उनके साथ ही प्रायः स्नानादि करते थे। आप बालकों की भाति सारी क्रियाओं को अपने शरीर में होते देखते थे। यहाँ हमें यह भी कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वामी जी मन से पूर्ण निर्विकार होते हुए भी विकारी जीवों को भली भाँति जानते एवं परखते थे। अवश्य ही इनका मन नारी रूपी अग्नि के सामने घृतवत् न रह गया था जो कि किंचित् ताप के लगते ही पिघल जाता है। इसके विपरीत यह तो शीतल हिम के समान थे जो अपनी समीपता से कामी के काम ताप को

भी शीतल बना दे। इसीलिये इनके समीप विकारी हृदय भी निर्विकारी हो जाता था। जहाँ ये अपनी स्वभाव-सुलभ सरलता के कारण बालकवत् लोक-मर्यादा के बाहर ही विचरते दीखते थे, वहीं कहीं-कहीं मर्यादा की इतनी सूक्ष्म विधि का पालन भी करते थे कि हम समीपवर्ती लोग भी देखकर चकित रह जाते थे।

एक बार की बात मुझे याद है—वर्षा के दिन थे। एक श्रद्धालु भक्त देवी ने परोपकारार्थ कूप बनवाया था, स्वामी जी उसी कुएँ पर बैठे थे। कुएँ के चारों ओर बहुत चौड़ा फर्श बना हुआ था। फर्श के नीचे ऊबड़-खाबड़ कीचड़ तथा घास से भरी हुई भूमि थी। वर्षा की अँधेरी रात में जब स्वामी जी लघुशंका से निवृत्त होने के लिये उठे तो मैंने यह आग्रह किया कि उसी फर्श के किनारे बैठकर लघुशका से निवृत्त हो लें परन्तु स्वामी जी मेरी बात सुनते ही बोल उठे कि "नहीं, यह लड़की का कुआँ है, इसके ऊपर बैठ कर ऐसी क्रिया नहीं करनी चाहिए।" इस प्रकार स्वामी जी की विचार-मर्यादा देखकर मैं तो आश्चर्य चकित हो मौन रह गया। यदि कोई स्वामी जी के सामने नारियों की निंदा करता तो इन्हें उस निन्दक की बुद्धि पर आश्चर्य होता था। इन्हे तो नारी ईश्वरीय शक्ति का साकार रूप दीखती थी। स्वामी जी नारी की निंदा क्यों करते, नारी से क्यों डरते? क्यों घृणा और ग्लानि के भाव से नारी की उपेक्षा करते? इनके चित्त में विकारों की कामवासना तो थी ही नहीं निर्विकार चित्त होने के कारण इन्हें पतित होने का भय तो था ही नहीं। इसीलिये इन्हें नारी दोषों की खान न दीखती थी। वास्तव में जब किसी के मन में पहिले से वासना छिपी रहती है तब वही सजातीय वस्तु के संयोग से जागृत हो जाती है और अपनी पूर्ति के लिये सर्वांगों को आकर्षित कर लेती है।

मानव के भोग-सुखों में पतित होने का यही क्रम है। प्रायः लोग अपनी दुर्बलता से ही पतित होते हैं और नारी को दोषी तथा पतन का कारण ठहराते हैं।

मानव शरीर के स्थूल ढाँचे के साथ ही एक सूक्ष्म शरीर है। उस सूक्ष्म शरीर में भिन्न भिन्न गुण-स्वभाव के कुछ स्तर हैं, जिनके द्वारा सांसारिक कामनाओं वासनाओं की ही पूर्ति होती रहती है। इसके साथ ही कुछ ऐसे स्तर भी हैं जिनके जाग्रत होने अर्थात् क्रियाशील होने पर पारमार्थिक सद्भावों का चरितार्थ होना अति सुगम होता है। महान् पुरुषों में जब उच्च क्षेत्र क्रियाशील होते हैं तब निम्न क्षेत्रों द्वारा प्रवाहित शक्ति उच्च क्षेत्रों की ओर उन्मुख हो जाती है इसीलिये अत्यधिक दया, करुणा, सहानुभूति, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमा, गंभीरता, विवेक और प्रेम आदि सभी सद्गुण बढ़ जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि में बिखरी शक्ति ही उधर से मुड़कर सद्गुणों के रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिए हम देखते हैं कि ऊँचे स्तरों में क्रियात्मक जाग्रति न होने के कारण एक व्यक्ति के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का त्याग अति कठिन है किंतु जिसमें उच्च भावनाएँ क्रियात्मक भलाई के रूप में चरितार्थ होती रहती है उसके लिये कामादिक विकारों को पूर्ण करनेवाली शक्ति ही शुद्ध ज्ञान तथा निष्काम प्रेम एवं परहित भाव में बदल जाती है।

शक्ति का अधोमुखी प्रवाह ही काम है। इसके विपरीत शक्ति की ऊर्ध्वमुखी गति ही प्रेम है। कामी संसार में आसक्त होता है और प्रेमी सत्य परमात्मा में अनुरक्त होता है। सुखों का रागी ही कामी होता है और सुख-शक्ति का त्यागी ही प्रेमी होता है। सुख-कामना की पूर्ति के लिये सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का आश्रय लेना होता है किंतु सुख-कामना से

विरक्त होने पर आनन्द की प्राप्ति के लिये अपने में ही सत्यानन्द का अनुभव होता है। जो कामाजित है उन्हीं को सत्यानन्द की अनुभूति का अधिकार है।

प्रत्येक विषय के प्रति सुख-बुद्धि का त्याग करनेवाला ही पूर्ण जितेन्द्रिय होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों विषयों में काम व्याप्त है। इन पाँचों विषयों की कामना का त्याग करना ही पूर्णरूपेण कामजित होना है। श्री स्वामी जी महाराज में किसी भी विषय की कामना न थी। सुन्दर से सुन्दर शरीर, जिसकी कमनीय कान्ति का वर्णन कविगण अत्यन्त रोचक शब्दों में करते रहते हैं, जिसकी रूप आभा पर कामी जन पतिंगे की भाँति अपने जीवन को जलाते रहते हैं, ऐसा मनोहर रूप भी श्री परमहंस जी की दृष्टि में हाड़, मांस रुधिर तथा मल-मूत्र के भाण्ड के अतिरिक्त और कुछ न था! कोकिल कण्ठवत् मनोहर स्वर-लहरी में मांस-यंत्र के भीतर आकाश में वायु की गति ध्वनि के अतिरिक्त उनके लिये कोई मोहकता प्रतीत न होती थी। जिन खाद्य पदार्थों का रूप मल-मूत्र में परिणत हो जाता है, उनके ही संयोग से रसना में स्वाद की प्रतीति अथवा घ्राण में गन्ध की प्रतीति, इन्द्रियों की क्षणिक सयोगज वेदना के अतिरिक्त और क्या हो सकता था।

किसी भी इन्द्रिय के विषय में रसास्वाद लेना ही काम को पुष्ट करना है। संसार के किसी भी सुन्दर रूप में, सुन्दर मधुर शब्द में, स्वादिष्ट भोजन में, किसी भी स्पर्श में तथा सुगन्ध में मोहित न होना, उनकी इच्छा न करना, प्राप्त होने पर भी सुख-भोग की दृष्टि से उसे स्वीकार न करना ही सच्ची जितेन्द्रियता है। हमारे स्वामी जी किसी भी विषय को सतृष्ण दृष्टि से, सुख की दृष्टि से मोहित होकर देखते ही न थे। इस कारण सत्यदर्शी

इन्हें जितेन्द्रिय कहते है। इनके जितेन्द्रिय जीवन के मनन से हम सबको शक्तिशाली होने के लिये जितेन्द्रिय बनने की प्रेरणा मिलती है। ये सच्चे जितेन्द्रिय होने के कारण ही दैवी शक्तियों से संपन्न योगी हैं। इनकी दैवी संपत्ति को कोई भोगी रह कर नहीं प्राप्त कर सकता। ये जिस गुरुतम पद को प्राप्त है, उस पद की सेवा करने के लिये अथवा इनके समीप पहुँच सकने के लिये इनके प्रेमी को जितेन्द्रिय होना ही पड़ेगा। जब तक हम लोग अजितेन्द्रिय हैं तब तक दुर्बल है। एवं इस पतित दशा में रह कर हम इन्हें देख तो सकते हैं परन्तु इन तक पहुँच नहीं सकते। हम सब लोग इनकी उस कृपा का अनुभव करें और उस विवेक तथा दृढ़ सङ्कल्प एवं विजयप्रद शक्ति के लिये प्रार्थना करें, जिसके द्वारा हम सब भी पूर्ण जितेन्द्रिय हो सकें।

स्वामी जी ने स्वयं महान् दुष्कर तपश्चरण करके मानव जाति को शक्तिशाली बनने के लिये जितेन्द्रिय होने की शिक्षा दी है। इसे प्रत्येक कल्याणार्थी शिष्य को ग्रहण करना ही होगा। इन्द्रिय-दमन, मन का निरोध, भोगों का त्याग करना ही सद्गुरु की शिक्षा को सार्थक करना है।

सन्त का धैर्य

सन्त महापुरुष में ही धीरता का परम रहस्य दर्शित होता है। हमारे परमहंस जी धैर्य की महत्ता को भली प्रकार जानते थे तभी तो वे धैर्य को अपने जीवन में अभेद्य कवच की भाँति धारण किये हुए थे। किसी भी कठिन से-कठिन परिस्थिति में कभी न टूटनेवाले धैर्य के बल पर ही ये सन्त मोक्ष-पद को प्राप्त कर सके।

सन्त के कृत्यों का अर्थ तो सन्त ही जान सकते हैं। जिन दिनों परमहंस जी ने अपने शरीर-निर्वाह के लिये भी प्रत्येक आवश्यक सङ्कल्प का अथवा इच्छापूर्ति की चेष्टा का त्याग-व्रत ले रक्खा था तब वे स्वयं न खाते थे न पीते थे न उठते थे न बैठते थे, उस समय इनके शरीर की रक्षा कोई अज्ञात शक्ति ही बालकों के रूप में करती रहती थी। उस समय बालकों के ही बुलाये बोलते थे, उनके ही उठाने से उठते और बिठाने से बैठते थे, उन्हीं के साथ खिलाने-पिलाने पर ही खाते-पीते थे। बालक चाहे पानी में गिरा दें चाहे आग में ढकेल दें चाहे तप्त बालू में सुला दें या बरफ में बैठा दें, वे जो कुछ भी करें, उसे अस्वीकार न करते थे। फलस्वरूप अनेक अवसर ऐसे भी आये जब प्राणों की बाजी लगानी पड़ी—बालकों के विनोद ने सङ्कट के मुख में झोंक दिया, वहीं पर परमात्मा की अदृश्य शक्ति की प्रेरणा ने मृत्यु के मुख से निकाल भी लिया। इस प्रकार की अवस्था में पग-पग में जिन कष्टों का सामना करना पड़ा, उसके लिये परमहंस जी में एकमात्र यह धैर्य ही ऐसा बल था, जिसके कारण अपने कठिनतम व्रत मे सदा अटल रह सके।

धैर्य के बल पर ही बड़े-बड़े बीहड़ वनों में गिरि-गुहाओं में महीनों ही नहीं वर्षों निवास किया, उसी प्रकार बड़ी-बड़ी बस्तियों में नगरों के कोलाहल में सैकड़ों हजारों के मध्य में भी धैर्यबल पर ही एकरस शान्त रह सके। हमें कुछ दिन सन्त सद्गुरु के समीप रहने का सौभाग्य सुलभ हुआ। मैं इन दिनों के दृश्य को भूल नहीं सकता जब कि हजारों दर्शनार्थी लोगों की भीड़ परम-हंस जी को घेरे रहती थी। साथ ही सबको अपनी-अपनी कहने की खुली छुट्टी थी। जब कि हम लोग उस परिस्थिति से अधीर होकर व्याकुल हो उठते थे तब ये महात्मा सदा अटूट धैर्य के बल पर ही कितने ही घण्टे एक आसन में बैठे हुए सबकी सुनते और तदनुसार सन्तोष प्रदान करते थे। इनके समीप सभी प्रकार का सुख देखकर अनेक व्यक्ति अपने को शिष्य बनाकर इन्हें घेरे रहते और कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जो इन्हें तंग करते थे, उन सबके प्रति भी हमारे परमहंस जी का धीरज अखण्डित ही रहता था। इनके सामने बड़ी-बड़ी भयङ्कर घटनायें आईं, शरीर पर बड़ी दारुण वेदनायें प्रगट हुईं और महीनों तक अपना डेरा जमाया फिर भी स्वामी जी की धीरता को डिगाने की शक्ति कहीं भी न दिखाई दी।

अनन्त धैर्य-धन सन्त सद्गुरु की दैवी सम्पत्ति है। इस धैर्य के कारण ही सन्त-सद्गुरु के जीवन में बहुत ही गम्भीर गति होती है—जिसका अर्थ सर्वसाधारण मानव नहीं समझ सकता।

किसी भी महदाकांक्षा अथवा अभीष्ट ध्येय की पूर्ति के लिये अधिकाधिक तप और त्याग की आवश्यकता होती है। तप तथा त्याग के लिये सर्वप्रथम उत्साह से गति आरम्भ होती है, कुछ दूर चलने पर मार्ग की कठिनाइयों से जहां उत्साह शिथिल

पड़ता है वहीं पर साहस से साधक को स्फूर्ति मिलती है किन्तु और आगे बढ़ने पर कुछ ऐसी निश्चिततम कठिनाइयां आती हैं, ऐसी जटिल परिस्थितियाँ बाधक बनती हैं साथ ही मनःस्थिति इतनी डावांडोल हो जाती है जबकि एक मात्र धैर्य के द्वारा ही कोई वीरात्मा सद्गति प्राप्त कर सकता है। धैर्य के बिना परमार्थ पथ में प्रगति पाना सम्भव नहीं है।

हमारे सन्त सद्गुरु परमहंस जी में कितना उत्कृष्ट धैर्य है—जिसके द्वारा ही संसार में जो कुछ भी कठिन माना जाता है उसी को इन्होंने सरल बनाकर दिखा दिया। इनके लिये किसी प्रकार की तपस्या कठिन नहीं। मौज आई तो बारह-बारह वर्ष बोले ही नहीं, अन्न छोड़ा तो बारह वर्ष अन्न लिया ही नहीं, वस्त्र छोड़ा तो पचासों वर्ष लँगोटी तक भी नहीं धारण की। घर छोड़ा तो बीसों वर्ष किसी घर में घुसे ही नहीं और किसी भक्त के आग्रहवश घर में गये तो दो-चार वर्ष बाहर निकले ही नहीं। कहीं वर्षों बैठे ही रह गए, श्रम का नाम तक न लिया और उठे तो पहाड़ों में चढ़ने का कठिन श्रम वहन किया। ऐसे स्वतन्त्र सन्त के जीवन में धैर्य के बिना कौन नित्य सहायक हो सकता है। हम लोगों को चाहिये कि यदि सन्त की अलौकिक शक्ति सम्पति के अधिकारी होना है तो धैर्य को निरन्तर साथ रक्खें क्योंकि प्रत्येक कठिनाई में आपत्ति-विपत्ति में धैर्य के द्वारा ही साधक को दैवी शक्ति प्राप्त होती है।

सन्त की अनासक्ति

संसार में श्रेष्ठ महापुरुष कौन हैं ? कुछ लोग वन में रहनेवाले तपस्वी की ओर संकेत करेंगे; कुछ लोग समाज की, देश की सेवा में तन, धन समर्पण करनेवाले को सर्वोपरि श्रेष्ठ बतायेंगे, कुछ लोग निरन्तर ईश्वर के नाम रूप की आराधना करनेवाले के चरणों में मस्तक झुकायेंगे; कुछ अपनी समझ में न आ सकनेवाले चमत्कारों को किसी व्यक्ति में देखकर उसे ही महापुरुष कहेंगे, तो कुछ लोग वेदशास्त्र के प्रकांड पंडित की प्रवचन-कला में मुग्ध होकर उसी से अपने कल्याण की आशा करेंगे, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि आजीवन कष्ट सह कर बड़े बड़े तपस्वी निपट मूर्ख, मान-पूजा के भूखे, क्रोधी, लोभी हुआ करते हैं। इसी प्रकार बड़े प्रतिष्ठित देशसेवक अपनी सेवाओं को कुछ धन या पदाधिकार अथवा मान के बदले में बेचते रहते हैं तथा प्रतिष्ठित पुजारी अर्थात् भगवद् नाम-रूप के उपासक साधु, भगवान् के प्रेमी न होकर अपने अहंगत रुचियों के कामना-पूर्ति के प्रेमी देखे जाते हैं। इसी भाँति वे चमत्कार प्रदर्शन करनेवाले सिद्ध लोग भी अपनी यौगिक शक्ति के मूल्य में सांसारिक वैभव भोग की ही वस्तुएँ लेकर सन्तुष्ट होते हैं और वे वेदशास्त्र-पारंगत विद्वान् दूसरों को शान्ति का मार्ग दिखाते हुए स्वयं सांसारिक सुखैश्वर्य के पथ में ही चलते हुए देखे जाते हैं। वास्तव में हमें महापुरुष के दर्शनार्थ इन सब विशेषताओं से आगे बढ़ना होगा क्योंकि महापुरुष वे हैं, जो संसार की सभी महद् वस्तुओं, सभी अवस्थाओं से ऊपर उठकर परमात्मा में रहते हैं, जो अपने सीमित अहं की अभिलाषाओं, मन की

वासनाओं तथा प्राणों के प्रलोभनों से तटस्थ होकर अनासक्त रहते हैं। सबसे—यहाँ तक कि अपने अहंकार से भी जो अनासक्त रह सकता है, वही पूर्ण सत्य में अनुरक्त है।

सन्त परमहंस जी में इसी प्रकार की उच्चतम अनासक्ति और परमात्मा के प्रति पूर्ण भक्ति का दर्शन मिलता है।

प्रायः देखा जाता है कि अपने आस-पास रहनेवाले वैभव ऐश्वर्य के प्रति अनासक्त होना ज्ञानी पुरुष के लिये सरल हो जाता है परन्तु अपने प्रति आसक्ति फिर भी बनी ही रहती है, यह अपने प्रति आसक्ति ही बड़े-से-बड़े त्याग तथा तप का भोगी बनाकर संसार में पतित करती है; इसीलिये परम गुरुपद में वही प्रतिष्ठित होता है जो अपने प्रति भी आसक्ति का त्याग करता है।

जो महात्मा अपने नाम से आश्रम या मत-सम्प्रदाय, धर्म-संस्था चलाने की अभिलाषा रखते हैं, वे अभी पूर्ण अनासक्त नहीं ।

हमारे परमहंस जी को संसार ने अपनी ओर से सुनाम, उपाधि, मान तथा गुरुपद आदि जो कुछ भी दिया, उससे ये सदा अनासक्त ही रहे।

जो संसार में कुछ भी अपना नहीं मानता और अपने को एक परमात्मा में ही आत्मसात् जानता है, वही संसार में अनासक्त महापुरुष है।

सन्त क्रोधजित

क्रोध प्राय: दो कारणों से ही आता है। अभिमान की अधिकता में जब कोई अपने विरुद्ध प्रतिकूल चेष्टा करता हो अथवा अपनी बात न मानता हो एवं अपना अनादर करता हो, और लोभ की अधिकता में जब किसी के द्वारा अपनी प्रिय वस्तु की हानि हो या अभिलषित वस्तु न मिलती हो; इन दोनों ही निमित्तों को लेकर क्रोध की उत्पत्ति होती है।

श्री सद्गुरुदेव में न तो अभिमान ही था और न किसी वस्तु का लोभ ही था। अत: इन्हें कभी क्रोध आता ही नहीं था। यह सत्य ही है—कि "बारम्बार अवज्ञा किये, उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये।" परन्तु सद्गुरु देव को प्राय: देखा गया कि अवज्ञाकारी व्यक्ति के प्रति तथा बार-बार आज्ञा-विरुद्ध भूल करनेवाले के प्रति भी क्रोध नहीं करते थे, अपने को गम्भीरता-पूर्वक अत्यन्त शान्त ही रखते थे। क्रोध-दमन के लिये सद्गुरु-देव में कितनी करुणा है, कितनी दया है तथा अज्ञानी जीवों के प्रति कितना उत्कृष्ट स्नेह है, कितनी सहिष्णुता है—इसकी माप तौल नहीं की जा सकती। श्री परमहंस जी के अनेक शिष्यों में कोई कोई व्यक्ति बहुत ही उद्दण्ड उच्छृंखल एवं तमोगुणी प्रकृति के थे और लोग प्राय: इनके सन्मुख भी उद्दण्डता का परिचय दिया करते थे परन्तु श्री परमहंस जी ने कभी उनसे यह भी नहीं कहा कि तुम हमारे पास से चले जाओ। इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिए कि परमहंस जी किसी का पक्ष लेते रहे हों। ये तो शान्त समस्थित रहकर सभी जीवों को अपनी-अपनी प्रकृति एवं विकारों में अधीन देखकर क्षमा, दया, करुणा की वर्षा करतेरहते थे।

कोई भी व्यक्ति अपने दोषों-दुर्विकारों के द्वारा श्री गुरुदेव

की समता एवं शान्ति को डिगा न सका। इनके अनेक शिष्यों में से कुछ लोग इनके समीप रहकर, अपनी कामनाओं को जो जीवन मे कभी पूरी न हो सकती थीं, त्याग वैराग्य की वेप-भूषा में अपने को छिपाकर पूरी करते रहे, उनमें से कुछ तो मान के भूखे थे, कुछ धन के भूखे थे और कुछ प्यार के भूखे थे। इस प्रकार सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त इन समर्थ की शरण में तृप्त होते रहे किंतु ये महान् इन सबका छल-कपट जानते हुए भी किसी पर कभी क्रुद्ध न हुए। ऐसे लोगों के लिये इनके ये वाक्य बहुत गम्भीर हैं—"परमात्मा के सब जीव हैं, अपने अपने भाव के अनुसार कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता बनकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। धीरे-धीरे सभी जीवों को ज्ञान होगा। सब पर दया करनी चाहिए।" वास्तव में स्वामीजी में किसी के सुधारक होने का अभिमान कभी न रहा। इन्होंने किसी को न तो प्रताड़ना दी और न किसी का तिरस्कार ही किया।

वास्तव में ज्यों-ज्यों मनुष्य क्रोधादि विकारों के वश हो जाता है त्यों-त्यों उस विकार का रोकना उसके लिये कठिन होता है, क्योंकि उसी तरह का अभ्यास बन जाता है। जितनी ही बार विकार की मन में क्रिया होती है, उतना ही अधिक विकार की आदत को बल मिलता है। परम पद की प्राप्ति केवल निर्विकार पवित्र जीवन में इच्छाओं को जीतकर उन्हें शान्त करने से ही हो सकती है। इच्छायें दमन करने से ही शान्त हो सकती हैं न कि तृप्त करने से।

ये सन्त युवावस्था का आरम्भ होते ही सुख तथा सुखियों से दूर रह, अरण्य-निवासी, हो साथ ही मौन रह कर निरन्तर योगाभ्यास में ही संलग्न रहते थे। अनुमान तो यही है, इनके मन में कोई सांसारिक इच्छायें उठती ही न थीं और कदाचित् कोई सांसारिक इच्छा कभी उठती भी होगी तो उसकी पूर्ति का अरण्य

स्थलों में कोई अवसर ही न था। अपनी इच्छा का जहाँ कहीं विरोध होता है, किसी भी प्रकार की स्वार्थ हानि में, मान हानि में, क्रोध आता है। हमारे परमहंस जी अभिमान और लोभ का त्याग कर चुके थे, क्रोध आने का कोई अवसर ही न रह गया था। सच है कि इन्द्रियों के बाँधने के लिए, इच्छाओं के रोकने के लिए जितना कड़ा बन्धन चाहिए उतना बन्धन पशु के बाँधने के लिए भी आवश्यक नहीं होता। इन्द्रियमन को जो बाँध लेते है वही संसार में सच्चे वीर हैं, वही विजयी हैं। जिसका चित्त काम क्रोधादि विकारों से मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि से संशय भ्रान्ति मिट चुकी है वही अपना और पराया हित अच्छी तरह समझ सकता है। पूर्ण संयमी जीवन से ही हित होना सम्भव है। जिसके मन में किसी प्रकार का क्षोभ उद्वेग नहीं होता, जो किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ता, जो निन्दा-स्तुति के चक्कर में नहीं पड़ता, वही अपने और दूसरों के हित में सफल हो सकता है।

ये सन्त तो सबके बीच प्रथम से ही असंग निर्लिप्त चित्त होकर विचरते रहे। यह महापुरुष बनावट की भूमि से बहुत ऊपर हैं। भले ही कोई इन्हें अपना गुरू बनाया करे किन्तु ये किसी के कुछ बनाये से नहीं बने। बनानेवाले इन्हें अपने-अपने भावानुसार कुछ भी बना-बनाकर अपने आप भले ही रस लेते रहें। हाँ, अवश्य ही ये सब किसी के सब कुछ की पूर्ति के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं। जबकि हानि के लिये इनके पास कुछ रह ही नहीं गया है तब हानि पहुँचाने वालों के स्वभाव पर इन्हें क्रोध क्यों आता ? जब बिगड़ने के लिए कोई बनावट इनके साथ है ही नहीं तब बिगाड़नेवाले इनके चित्त में क्रोध कैसे पैदा कर सकते थे। ये तो निष्काम प्रेम की दृष्टि से सब प्राणियों के प्रति क्षमा-दया का ही व्यवहार रखते आये। क्रोध के लिये तो इनके

सम्मुख अभिमान तथा लोभ-मोह के मार्ग ही बन्द हो चुके थे।

श्री गुरुदेव के उत्कृष्ट तप और उत्तम त्याग के प्रति जहाँ सहस्रों हृदय मुग्ध मति से श्रद्धावनत होते रहते वहाँ कभी कभी ऐसे मनुष्य भी मिल जाते थे, जो इनके नग्न रूप को देखकर प्रायः इनके निरंकुश और विक्षिप्त होने की कल्पना करते हुए इनसे असभ्यतापूर्वक वार्त्तालाप एव विवाद भी करने लगते थे। किन्तु श्री स्वामीजी महाराज को ऐसे व्यक्तियों पर कभी भी रोष न आता था। ऐसे अवसरों पर या तो आप मुस्करा देते थे या मौन होकर चल दिया करते थे।

श्री सद्‌गुरुदेव की इस अक्रोध स्थिति के दर्शन का यही फल होना चाहिये कि हम लोग भी अपने व्यावहारिक जीवन में क्रोध का त्याग करें। यदि हम इनके प्रेमी भक्त होने का साहस करते हैं तो यह निश्चित है कि हम लोग इन क्रोधादि विकारों की उपासना करते हुए इनकी उपासना नहीं कर सकते। भले ही इनके भक्त होने की कल्पना करते रहें परन्तु जब तक हम क्रोध का त्याग कर क्षमा, दया, विनम्रता को धारण न करेंगे तब तक इन्हें हम प्रिय नहीं हो सकते। क्रोध में होनेवाली क्रियाएँ ही यह सिद्ध कर देंगी कि हम आसुरी शक्तियों के शासन से बद्ध हैं। वहाँ दैवी शक्तियो की कृपा तब तक नहीं पहुँच सकती जब तक हम क्रोधादि दोषों के त्यागी न बनें। क्रोध को सभी पापों का मूल बतलाया गया है। अतः सत्यधर्म का अनुयायी क्रोध का त्याग करता है। परमार्थी पुरुष यदि क्रोध करता भी है तो वह अपने दोषों-दुर्विकारों पर क्रोध करता है। गुरुपद की उपासना कोई भी क्रोधी नहीं कर सकता। श्रीगुरुदेव के शरणापन्न होकर क्रोध करना उनकी पवित्र नीति-प्रीति, रीति एवं शिक्षा का दुरुपयोग करना है तथा उनसे विमुख रहना है।

सन्त की सहिष्णुता

जिस प्रकार असहिष्णुता से मनुष्य की दुर्बलता का परिचय मिलता है, उसी प्रकार सहिष्णुता से मानव की शक्ति-शालिता का ज्ञान होता है। जो पुरुष जितना ही विवेकी होगा, जितना ही उत्कृष्ट प्रेमी होगा, उदार होगा, वह उतना ही अधिक कष्ट-सहिष्णु होगा। दैवी सम्पत्ति-सम्पन्न महापुरुष ही अपनी प्रतिकूल परिस्थिति में सर्वत्र सहिष्णुता के द्वारा ही शान्त समस्थित रहते हैं। सहिष्णु होने के कारण ही वे तपस्वी और दोषों एवं दुर्विकारों से रहित त्यागी देखे जाते है। हमारे श्रद्धास्पद श्री परमहंस जी महाराज में असाधारण सहिष्णुता थी। चाहे कैसी ही भयानक सर्दी पड़े या गर्मी बढ़ जाय, उनके नग्न शरीर में जैसे सर्दी-गर्मी के वेगों का कुछ प्रभाव ही न पड़ता हो। इस प्रकार उन्होंने कितने वर्ष विताये, इसकी ठीक गणना नहीं की जा सकती। प्रत्येक परिचित व्यक्ति ने पचासों वर्ष से इन्हें इसी नग्न रूप में विचरते देखा। कुछ समय से जब वे नगरों-ग्रामों और घरों में विशेषतया आने लगे तब से लोक-मर्यादा के कारण लोगों के सन्तोषार्थ शरीर में एक सिला हुआ कुर्त्ता कभी-कभी डाले रहते थे। कदाचित् हम लोग उनकी शारीरिक सहिष्णुता को महत्त्व न भी दें, जो कि साधारण बात नहीं है, फिर भी उनकी मानसिक सहिष्णुता को देख कर तो आश्चर्य से चकित रह जाना पड़ता है। वे दुःखों के सामने सदैव पर्वत के समान अचल एवं अडिग गंभीर स्थिर होकर ही रहे।

श्री स्वामीजी को अपनी निंदा सुन कर अपनी झूठी बुराई सुन कर कभी निन्दक पर इसलिये ही क्रोध न आता था कि मन

में पूर्ण सहिष्णुता है। अकारण अपकार करनेवाले के प्रति भी स्वामीजी कभी कुपित नहीं हुए। एक साधु ने इनकी बढ़ती हुई ख्याति से क्षुब्ध होकर ईर्ष्यावश धोखा देकर मस्तिष्क को बिगाड़ देनेवाली एक विषैली औषधि पिला दी। स्वामीजी पर उस औषधि का इतना ही असर हुआ कि असमय में ही शीश की जटाएँ कुछ दिन के लिये एक साथ झड़ गईं। शिर पर बिल्कुल केश न रहे। फिर भी स्वामी जी ने उस साधु से कुछ भी न कहा, केवल उसके सम्पर्क से वे दूर हट गये।

श्री स्वामी जी निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति से ध्यानस्थ रहकर कभी-कभी समस्त रात्रि घूमते ही रहते। एक ग्राम से दूसरे ग्राम को चले जाते। वही क्रम जाड़ा गर्मी बरसात सभी ऋतुओं मे रहता था। जब कोई भोजन खिलाता था तब खा लेते थे, जब कोई पानी पिलाता तो पानी पी लेते थे। ये कभी किसी से कोई वस्तु स्वयं न मांगते थे। श्री स्वामी जी की हम सब शिष्यों के लिये भी यही शिक्षा थी कि "किसी से कुछ न मांगो। जो तुम्हारे प्रारब्ध में होगा, स्वतः आ जायगा। आने पर जो कुछ भी मिले, चाहे जितना कम मिले, उतने में ही सन्तोष करो और यदि अधिक मिले तो वापस कर दो अथवा-अभाव पीड़ितों, दुखियों की सेवा में लगा दो।" श्री स्वामी जी की यही नीति-रीति थी। स्वयं ये भिक्षुवेष में परम ज्ञानी थे।

इस प्रकार के अलक्षित भ्रमण में भी परमहंस जी को शरीर में कितने सर्दी गर्मी एवं वर्षा के वेग सहन करने पड़ते थे, इसका अनुमान लगाना भी असंभव है। एक बार भ्रमण करते हुए स्वामी जी बहुत बड़े जंगल में पहुँच गये। कोसों बस्ती का पता न था। उसी अरण्य में एक सती का स्थान मिला। स्वामी जी वहीं बैठकर ध्यानस्थ हो गये। भूखे-प्यासे ही वहाँ बैठे रहे। ठीक

स्मरण नहीं है तीन या सात रात-दिन बीत गये। वहाँ इनकी किसी ने भी खबर न ली। अन्त में एक बालिका के रूप में सती देवी स्वयं सुन्दर थाल में कई प्रकार की मेवाएँ और जल लेकर उपस्थित हुईं। स्वामी जी ने उस प्रसाद को पाया। जो कुछ वार्ता हुई हो, उसका पता नहीं। स्वामी जी को भोजन करा वह सतीदेवी अदृश्य हो गईं।

श्री स्वामी जी का यह उपदेश है कि "परमात्मा पर दृढ़ विश्वास करके कहीं भी बैठ जाओ। हर स्थान पर किसी-न-किसी रूप में सहायता, प्रेरणा एवं सूचना अवश्य मिलेगी।"

सद्गुरु देव श्री स्वामी जी अपनी दिव्य दृष्टि से अन्तरिक्ष में सूक्ष्म शरीर से विचरनेवाले विलक्षणरूपधारी जीवात्माओं को यत्र-तत्र देखा करते थे। इसके अतिरिक्त भी वे क्या-क्या देखते थे, इसका वर्णन करना अपनी सामर्थ्य के बाहर है।

अभी तो हमें यही देखना है कि सन्त महात्माओं में कितनी अधिक सहिष्णुता होती है। इलाहाबाद जिले में मऊ नामक एक ग्राम है। वहाँ के निर्जन जंगली टीले में स्वामी जी को एक ब्रह्मदेव मिला। उसके साथ तीन शक्तिशाली सूक्ष्म शरीरधारी व्यक्ति और थे। वे स्वामी जी के शरीर में घुस गये। स्वामी जी को खूनी पेचिस हो गई और छः मास तक बराबर चलती रही; तब किसी ऊर्ध्वस्थित शक्ति की अन्तर्ध्वनि हुई कि "इस योगी पर तुम विजय न प्राप्त कर सकोगे। यह तुम्हारे मारने से न मरेगा।" इस ध्वनि के होने पर उस ब्रह्मदेव ने परमहंस जी को छोड़ दिया। स्वामी जी का कहना था कि द्वापर में होनेवाले महाभारत युद्धकाल के ये शत्रु हैं, जो अब तक पीछा करते और बदला चुकाते चले आ रहे हैं।

यहाँ पर पाठकों को संशय होगा कि स्वामी जी को द्वापर

का पता कैसे था ? इसका समाधान तभी हो सकता है जब प्रश्न कर्त्ता अन्यान्य सिद्ध-पुरुषों के जीवन चरित्रों का अध्ययन करें क्योंकि जगत्प्रपंच को पार कर जाने-वाले महापुरुषों के शरीर के भीतर वे शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं जिनसे बड़ी-बड़ी विलक्षण दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, अनेक जन्मों के संस्मरण एवं दूसरों के जन्मो का भी ज्ञान, आगामी जन्मों का ज्ञान आदि अलौकिक बातें संभव हो जाती हैं। अष्टसिद्धि एव नवनिधि की चर्चा तो प्रायः सभी आध्यात्मिक विषय के ग्रन्थों में मिलती है, इसके अतिरिक्त योग-विषयक ग्रन्थों मे उन्तीस प्रकार की सिद्धियों का और भी वर्णन मिलता है। श्री परमहंस जी में अनेक प्रकार की सिद्धियाँ है, जिन्हे ये प्रायः गुप्त ही रखते आये। कभी-कभी इनमे यदि कहीं चमत्कारिक सिद्धियों का परिचय मिला भी तो वह किसी की सेवा-सहायता करते हुए किसी को संकट से मुक्त करते हुए ही मिला। साधारणतया तो स्वामीजी सदा गुप्त रूप में ही अनेक प्रकार के असाधारण सेवा-कार्य किया करते थे।

शारीरिक कष्टों का सहन करना तो आपके लिए खिलवाड़ सा था। एक बार बरईगढ़ ग्राम में एक भक्त के यहाँ किसी दुखी बहू ने अपनी आत्महत्या के लिये संख्या लेकर रक्खा था। स्वामी जी ने उसे खोज लिया, जब लेकर बालकों के साथ चले तो बालक उसे मीठी वस्तु समझ कर छीनने लगे तब शीघ्रता से स्वामी जी ने अपने मुख मे रख लिया और निगल गए इसलिये कि बालक छीनकर कहीं खा न लेवें। उस विष की मात्रा इतनी अधिक थी कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसे खा लेता तो उसके प्राण बचना असम्भव ही था परन्तु आपने न मालूम कैसे उस विष को पचा लिया। अन्त में उस भयानक विष का प्रभाव इतना तो हुआ ही कि दो-तीन दिन आपको लाल दस्त होते रहे

और आप उसी दशा में एक पानी की नहर में ही दो-तीन दिन तक लेटे रह गये। जब विष की गर्मी शान्त हो गई तब स्वस्थ होकर पूर्ववत् बालकों के साथ खेलने लगे। इस प्रकार विष का सेवन कर लेना और उसके भयानक प्रभाव से अत्यधिक कष्ट सहना तथा उसे पचा कर स्वस्थ हो जाना यह सब महान् योगी के सामर्थ्य की ही बात है।

श्री परमहंस जी के लिये यह भी एक खिलवाड की बात थी और खिलवाड़ में ही बाललीला करते हुए बालकों के साथ खेलते हुए ये इतना अधिक विष खा गये। एक बार पूछने पर आपने यह उत्तर दिया कि "कोई दूसरा न खा ले इसलिये हमने ही खा लिया।" श्री परमहंस जी की इच्छा के विरुद्ध कसी भी आधि-व्याधि से, किसी भी शत्रु के शस्त्र से अथवा किसी विष से इनके शरीर की मृत्यु नहीं हो सकती थी। इन्हें अपने जीवन में अनेक प्रकार के भयानक-से-भयानक आघातों का सामना करना पड़ा।

बड़ी-बड़ी व्याधियों का इनके ऊपर आक्रमण हुआ किन्तु ये सदा सब पर विजयी हुए। प्रसग-वशात् एक बार श्रीगुरुदेव ने ही इस रहस्य को स्पष्ट रूप से प्रगट किया। उन्होंने अपने निकटस्थ प्रेमियों को बतलाया कि "हमें ध्यान मे श्री लक्ष्मी जी ने सर्वत्र विजयी होने का वरदान दिया है। हमारे हाथ में लक्ष्मी की दी हुई छाप है। इस छाप को देखकर कोई भी शक्ति हमें कहीं जाने से रोक नहीं सकती। साथ ही हमें भगवान् की ओर से अमृत का प्याला पिलाया गया है। इसीसे हम किसी के मारे मर नहीं सकते।" ये सर्वत्र निर्भय होकर विचरते रहे।

मृत्यु से तो यह सन्त सदा खेलते-से रहे, क्योंकि इन्हे अपने अविनाशी जीवन का बोध था। अपने सभी भक्तों एवं शिष्यों

को श्री परमहंस जी ने सहनशील होने की शिक्षा दी है। उनका कहना था कि—"साधु फकीर को एक मुर्दे की तरह अपनी बुराई, निन्दा तथा लोकापवाद सुनकर मौन रहना चाहिए। बदले की इच्छा न करके शान्त गम्भीर होकर किसी के द्वारा आनेवाले दु.खदायी प्रयोगों को सह लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से शक्ति मिलती है और शान्ति भंग नहीं होती, दुष्कर्मों का अन्त हो जाता है।" श्री परमहंस जी साधुजनो को तो विशेष रूप से मौन रहने, दयालु तथा कष्ट-सहिष्णु होने की प्रेरणा देते आये हैं क्योंकि सहिष्णुता और सत्यपरायणता के योग से ही भक्ति प्राप्त होती है।

शक्ति से ही सहिष्णुता और सहिष्णुता से ही शक्ति की वृद्धि होती है। असहिष्णुता से शक्ति-ह्रास और शक्ति के ह्रास से असहिष्णुता दिखाई देती है। किसी-किसी को शक्ति की कमी रहने पर सहिष्णुता के द्वारा ही सद्गुणों की शक्ति बढ़ानी पड़ती है किन्तु श्री स्वामी जी में प्रथम से ही जन्मजात दैवी गुणों की ही प्रबलता पाई गई। ये अपनी शक्तिशालिता के कारण ही पूर्ण सहिष्णु थे। ये अकस्मात आनेवाले प्रतिकूल वेगों के सहन करने में तो अत्यन्त दक्ष ही थे, इससे भी अधिक महत्व को बात यह थी कि स्वय दूसरों की सेवा—सहायता करते हुए दूसरो के कष्ट अपने ऊपर ले लिया करते थे। वास्तव मे आत्मज्ञान की परख निष्काम प्रेम के द्वारा होती है और शुद्ध प्रेम का परिचय निरन्तर कष्ट-सहिष्णुता के द्वारा मिलता है।

हम लोगों को स्वामी जी की सहिष्णुता का पूर्ण भक्त होना चाहिए। उनकी सहिष्णुता के मनन चिन्तन करने से हमें सहिष्णु होने की प्रेरणा मिलती है। उनकी सहिष्णुता को अपने में धारण करना, उसका व्यवहार में अभ्यास करना ही उनकी

सच्ची भक्ति है। हमारे श्रद्धेय श्री स्वामी जी शक्ति-समर्थ होकर इतने सहिष्णु और हम लोग सब प्रकार से असमर्थ होकर भी कितने असहिष्णु! इसका अनुभव करते हुए अपनी असमर्थता मिटाने के लिये हमें समर्थ स्वामी जी की शरण में—सहिष्णुता का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

सहिष्णु होकर ही हम लोग अपने गुरुदेव को अपने द्वारा प्रसन्न देख सकते हैं क्योंकि गुरुदेव के सद्‌गुणो को अपने में धारण करना ही इनके पथ में बढ़ते चलना है। इनकी समीपता तथा कृपा-प्राप्ति का यही एक उपाय है कि हम सब लोग इनकी आज्ञा का पालन करें। सद्‌गुणों को आचरण में लाना ही इनकी आज्ञा है।

जो क्षुद्र है वह तो छिद्र ही ढूँढ़ता है, अपने ही शरीर, मन को सुखी रखने का प्रयत्न करता है, अशान्ति के विचार रखता है, चिन्ता करता है—वह गुरुदेव के अयोग्य है। योग्य वही है जो सन्त-सद्‌गुरु की आज्ञा पालन करता है, जो सहिष्णु और त्यागी होता है।

सन्त की विरक्ति

जिस योगी में समस्त कामनाओं का बहिष्कार हो चुका हो, उसमें धनादि पदार्थों का लोभ क्यों होगा ? श्री स्वामीजी के जीवन मे कहीं भी लोभ की झलक नहीं मिलती। यदि किसी अर्थ में लोभ की मात्रा दिखाई भी दी तो वह अधिकाधिक तपश्चरण के लिये, पूर्ण त्याग के लिये एवं सर्वभावेन सत्यानुराग के लिये ही। इसके अतिरिक्त इन्हे न संसार में कोई लाभ की वस्तु दीखती थी और न उसकी प्राप्ति का लोभ ही था।

अच्छे अच्छे धनी मानी राजा-रईस, स्वामी जी की सेवा म उपस्थित होते रहे परन्तु इन्होंने अपने त्याग में कभी भी लोभ-रूपी कलक न लगने दिया। हाँ, धनी एव पूँजी-पतियों को दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करने के लिए प्रेरणा तो अवश्य करा देते थे किंतु स्वय अपने लिए तो इन्हे कभी कोई आवश्यकता ही नहीं अनुभव होती थी। वरन् चाहनेवालों की चाह को पूरी करा देने की चेष्टा करते रहते थे। अपने शरणागतों के जीवन-निर्वाह के लिये उनके स्थानादि का प्रबन्ध भोजन तथा वस्त्र आदि का प्रबन्ध स्वामी जी ने भले ही करा दिया हो किन्तु स्वय अपने लिये इन्होंने किसी स किसी भी वस्तु की इच्छा न की। ये तो सदा गृहस्थी के साथ रह कर भी अनिकेत असग्रही अनासक्त हो कर रहे।

एक बार इन स्वामी जी को ध्यानावस्था मे बहुत बड़ी धन-राशि के रूप में लक्ष्मी को स्वीकार करने की प्रेरणा हुई परन्तु यह सन्त इतने निस्पृह थे कि तत्क्षण अस्वीकार कर दिया। परमानन्द से छके हुए महापुरुष को भौतिक सम्पत्ति की चाह

क्यों होगी। सन्तों का अनुभव है कि जहाँ लक्ष्मी जाती है उसके साथ चिन्ता अवश्य ही जाती है क्योंकि चिन्ता लक्ष्मी की बहिन है। कंचन, कामिनी और मान के लोभ से जो बचा रह सके, वही तो सन्त पद प्राप्त करता है। ये तीनो त्रिगुण की ऐसी विचित्र तिकड़म है, जिसमें बड़े-बड़े शक्तिशाली बुद्धिमान् भी चक्कर काटने लगते हैं। सन्त सद्गुरु नागा जी इस तिकड़म में कभी मोहित न हुए, तभी तो बड़े-बड़े लक्ष्मी-सम्पन्न व्यक्ति इनके सामने करबद्ध सेवा करने के लिये तरसा करते थे। अगणित कमनीय कलेवरा इनके अङ्ग-संग में उसी प्रकार सकोच न करती थीं जिस प्रकार माता या भगिनी अपने छोटे बालकों के संग में निःसंकोच रहती हैं। ये सर्वाधार महान् परम सत्य का अनुभव करते हुए अहंकार को अभिमान से शून्य कर चुके थे। सुख-वासना के अनुसार ही वस्तु की चाह होती है, चाह के अनुरूप ही आसक्ति होती है। सन्त सद्गुरु का हृदय वासना से पूर्ण रिक्त हो चुका था, तभी इन्हें किसी भी वस्तु या व्यक्ति के सौन्दर्य में मोहकता प्रतीत ही न होती थी।

वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति ही बन्धनकारिणी होती है। ये सन्त तो सदैव सबसे निरासक्त ही थे। इनके मन में मान का, माया का तथा भोगों से मिलनेवाले सुख का कुछ प्रभाव न पड़ता था क्योंकि ये महात्मा सत्स्वरूप में स्थित रह कर निरन्तर अक्षय अद्वितीय आनन्द का आस्वादन करते थे।

पुरातन काल से ससार उन्हीं पुरुषों को महान् पद में प्रतिष्ठित देखता आ रहा है, जो आत्मसयमी होते हैं, जो बड़ी से बड़ी विपत्तियों में समस्थिर रहते हैं, जो परम सन्तोषी नित्य प्रसन्न रहते हैं, जिनके मन में मान बड़ाई धन की इच्छा नहीं रहती, जिनका निष्कलुष अन्त:करण अकलङ्क शुभ्रता से चमका

करता है। हमारे परमहंस नागा जी इसी कोटि के सन्त हैं। यह सन्त इस कारण से सदा विरक्त रह सके कि दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न थे। इस संसार के बड़े बड़े राजाओं-महाराजाओं के पास ऐसा कुछ था ही क्या, जिसे देखकर यह सन्त आकर्षित होते। ये तो अन्तर्जगत् की बड़ी बड़ी शक्तियों के कृपापात्र होते हुए साक्षात् लक्ष्मीमाता का वरदान पाकर भी अभिमान को प्राप्त न हुए।

कैलाश लोक के नीचे जितने भी लोक पड़ते हैं, सभी लोकों के अधीश्वरों ने सन्त सद्गुरु को अपने ऐश्वर्य वैभव की महिमा दिखा कर रोकना चाहा। न रुकने पर कहीं कहीं ताड़ना भी दी परन्तु ये सन्त अपने लक्ष्य से विचलित न हुए। अन्त में अनेक सिद्धों ने, शुक्राचार्य-सदृश गुरुओं ने इनकी परमगति में सहायता दी। स्वयं लक्ष्मी माता ने सदा विजयी होने का वरदान दिया। उस वरदान के बल पर ही ये सन्त भयङ्कर रण तथा वन के बीच से चलते हुए बड़ी-बड़ी व्याधियों एवं विपत्तियों का सामना करते हुए कहीं पराजित न होकर अन्त में ध्यानयोग के द्वारा कैलाश धाम को प्राप्त हुए।

इन सन्त की समीपता में आकर जिसको जो उचित लगा, उसने उनका वही नाम रख लिया। कहीं ये रामदास कहलाये कहीं हरनाम दास नाम से पुकारे गये, कहीं नागा, कहीं नागा गिरधारी, कहीं नागा बाबा और कहीं नागा निरंकारी नाम बनते चले गए। कहीं पर इनके नाम से आश्रम बनाने की चेष्टा की गई— जिसकी जैसी भावना थी वैसे प्रयास किया किंतु ये सन्त तो सदा सब कुछ से विरक्त ही रहे। इनकी विरक्ति का एक मोटा-सा उदाहरण है—अपने शरीर पर इन्द्रियों पर, मन पर अपना नियन्त्रण। इनकी विरक्ति का दूसरा चिन्ह है मोह का अभाव, और स्वाग्रह का त्याग।

विवेकी पण्डितों ने तथा सभी धर्मशास्त्रों ने उसी महापुरुष को सन्त कहा है जो सबसे अनासक्त है, जो आशा का त्याग करके, माया-सन्मान, हानि अपमान से होनेवाले हर्ष-शोक का त्याग करके, निन्दा-स्तुति में अविचलित रहता है—ऐसे सन्त को भगवद्गीता स्थितप्रज्ञ कहती है। ये अपने आप पर और संसार पर विजय प्राप्त करते हुये हम सबको यह सिखाते हैं कि आत्म-संयम और अहंत्याग कैसे करना चाहिये।

इन सन्त सद्गुरु ने अपने लिए कहीं भी कोई घर न बना कर यह दिखाया है कि मनुष्य घर के बिना भी रह सकता है। यह सन्त आजीवन नग्न रहकर, वर्षा गर्मी सर्दी में कोई वस्त्र न लेकर, पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि प्रकृति की स्वाभाविक गतिविधि मनुष्य की नाशक नहीं है। यदि मनुष्य स्वय ही उसका विरोध न करे तो प्रकृति की ओर से ही जीवन-संरक्षिका शक्ति प्राप्त होती है, सहिष्णुता अत्यधिक बढ़ जाती है। ये सन्त एक कौड़ी की भी चिन्ता न करके लोभी मनुष्यों को यह सदेश देते हैं कि वास्तव में सत्यनिष्ठ जीवन के लिये धन की आवश्यकता नहीं प्रत्युत सन्तोष एवं उदारता की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना धनी मनुष्य भोग-सुखों के पीछे अन्धा होता है और परतन्त्र तथा अपराधी होता है। लोभी मनुष्य सब से नीच और निर्लोभी सन्त सबसे उच्च होते है। आसक्त व्यक्ति सर्वदा परतन्त्र बद्ध होते है, विरक्त महापुरुष स्वतन्त्र मुक्त होकर रहते हैं।

सन्त में परम ज्ञान

सिद्ध-सन्त महापुरुषों के द्वारा ही संसार में मानव-जाति को अपने भीतर ईश्वरीय ज्ञान तथा प्रेम की अभिव्यक्ति का सन्देश सुलभ हुआ है, इन्हीं की प्रेरणा से दिव्यता की प्राप्ति के लिये मानवता जाग्रत होकर सत्योन्मुख हुई है। सिद्ध-सन्त में ही भगवान् का उच्चतम स्वभाव व्यक्त होता है जिसमें अलौकिक दया तथा उदारता और अनुकम्पा होती है—इसके द्वारा ही प्राणिमात्र के सुख की रक्षा और समयोचित विधि से संहार भी होता है।

परम ज्ञान के प्रकाशित न होने तक मानव अशुद्धि बुद्धि के साथ कर्म करता है। तभी तक उसका सकल्प भी अशुद्ध रहता है, इसीलिये कर्म बन्धन में पड़ता है और आशा, भय, क्रोध, शोक से घिरे रहने के कारण सुख से तृप्त, तुष्ट नहीं हो पाता।

सन्त-महापुरुष ही बद्ध-दुःखाक्रान्त जीव को परम ज्ञान का प्रकाश दिखाते हैं, मन तथा इन्द्रियों की पराधीनता से छूटने का साधन बताते हैं। अपने ज्ञान से पापों को न करने, केवल पुण्यों को संचित करने की शिक्षा देते हैं। हमारे सन्त परमहंस जी परम ज्ञानी थे, इनके उच्चतम ज्ञान का दर्शन बौद्धिक विद्वतापूर्ण वाक्यों के द्वारा नहीं होता प्रत्युत इनकी नित्य निर्भय, निर्द्वन्द्व सम्यावस्था एवं सहज शान्ति को देख कर होता है। सांसारिक भोग-सुखों से सदा विरक्त रहकर मायिक रूपों में कहीं भी मोहित न होकर किसी भी समीपवर्ती वस्तु या व्यक्ति को अपना न मान कर ही इन्होंने बताया है कि संसार का इन्हें पूर्ण ज्ञान है।

सन्त का ज्ञानमय जीवन विश्व की स्वार्थ-हीन सेवा के लिये होता है। हमारे परमहंस जी पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते थे, क्योंकि इस सांसारिक ज्ञान से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। अभिमान की वृद्धि और प्राय: ऐहिक सुख-स्वार्थ की सिद्धि में यह पुस्तकीय ज्ञान अवश्य ही सहायक होता है। इनके मत से परमात्मा का भजन करते-करते भीतर से अपने आप ही परम ज्ञान होता है।

मुझे स्मरण है कि ये सन्त मेरे हाथ मे पुस्तक देखकर कभी-कभी मुझे समझाते कि "ये पुस्तकें पढ़ने से वह सत्य ज्ञान न मिलेगा, जिससे परम शान्ति मिलती है, वह तो मन लगाकर भजन करने से हृदय निर्मल होने पर ही सुलभ होता है।" सन्त के इन वाक्यों का मर्म तब मेरी समझ में न आता था, इतना सुन कर भी मैं पुस्तकाध्ययन से विरक्त न हो सका परन्तु कितने ही वर्ष बीत जाने पर अब मैं अपने आपको जब देखता हूँ तब स्पष्ट दीखता है कि पुस्तकीय ज्ञान से कदापि मुझे शान्ति न मिली, न मेरे दोष ही दूर हो सके। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सत्य के ज्ञान अथवा उसके अनुभव के लिये अन्तःकरण को पवित्र बनाने का साधन कुछ और है।

विद्या के बल से हम सत्-असत् का विवेचन कर सकते हैं, कदाचित् सत्-असत् का कुछ क्षण ज्ञाना-भास भी हो सकता है परन्तु असत् से विरक्त होकर सत्य में अनुरक्त नहीं हो सकते अर्थात् उसे हम अपने में पा नही सकते, उससे आत्मसात् नहीं हो सकते। सत्यानुभव अर्थात् आत्मस्थ होने के लिये तो हमें बुद्धि के अतिरिक्त हृदय को खाली करना होगा; अन्तर्मुखी वृत्ति के सहारे हृदयस्थ चेतना की गहराई मे गोता लगाना होगा—इसी के लिये ये सन्त मन लगाकर जप, सुमिरन, चिन्तन ध्याना-

भ्यास पर विशेष प्रेरणा देते थे क्योंकि परम पवित्र सत्य के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से ही अन्तःकरण पवित्र होता है। जिर का अन्तःकरण निर्मल है वही परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। सत्य के साक्षात्कार होने में जगत-दृश्य के प्रति राग द्वेष, अज्ञान, भय तथा अभिमान, और असयंम ही बाधक हैं; इन सब पर विजय पाना परमार्थी के लिये अत्यावश्यक है। जब तक हम अपना हृदय पवित्र न बना लेंगे तब तक ईश्वर से प्रेम करने की बात तो दूर है—मनुष्य से भी हम शुद्ध प्रेम नहीं कर सकते।

कितना समय बिता कर हम सन्त सद्गुरु के उपदेश को समझ पाये कि सत्य परमात्मा का योग ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें बड़े-बड़े धार्मिक ग्रन्थों से न चिपटे रहना चाहिये प्रत्युत अपने हृदय को ही शुद्ध बनाना चाहिये।

विद्याध्ययन ग्रन्थाध्ययन जहाँ तक हृदय की शुद्धि में सहायक है वहीं तक प्रशसनीय हैं किन्तु जहाँ विद्या से अथवा शास्त्राध्ययन से ज्ञान का अभिमान बढ़ता है वहाँ सन्त-जन इसका आदर नहीं करते।

चाहे कितने ही ग्रन्थों का अध्ययन कोई करे आत्म-कल्याण के लिये जो शिक्षा मिलती है वह यही कि सत्यनिष्ठ होकर रहो, सरल-विनम्र बनो, हृदय को निर्मल रक्खो और शीतल, दुःख में धैर्यपूर्वक प्रसन्न, और संकट के समय स्थिर बुद्धि-द्वारा विवेक से काम लो, मृत्यु के प्रति अभय रहो, सनातन आत्मा के प्रेमी बनो—इसी शिक्षा में ज्ञान और प्रेम की पूर्णता सिद्ध होती है। सन्त सद्गुरु के आदर्श जीवन में यही सब बातें मूर्तिमान मिलती हैं।

ये सन्त परम ज्ञानी थे किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इनको कभी हमने पढ़ते-लिखते नहीं देखा, न किसी धर्मग्रन्थ

का वाक्य दुहराते सुना। वाद-प्रतिवाद व्याख्यान-प्रवचन की कला तो ये जानते ही न थे। ऐसा लगता है कि कभी किसी विद्वान् के व्याख्यान सुनने का आजीवन इन्हें अवसर भी नहीं मिला। ये अपने लिये कभी आवश्यकता भी न समझते थे। इन्हें कुछ सुने पढ़े बिना ही सत्य का बोध हुआ था। इनके वाक्यों को सुन कर विद्वान् पण्डित जन अपने शास्त्रों से मेल मिला कर सन्तुष्ट होते थे। इनका अपना स्वतन्त्र अनुभव था, वह अपने भीतर से ही मिला था। इनके शरीर, वाणी तथा मन की क्रियाओं से विदित होता था कि प्रत्येक क्रिया गम्भीर ज्ञान विवेक के शासन से सधी हुई है। किसी के यथार्थ ज्ञान की नाप केवल वाक् पाण्डित्य को देखकर नहीं होती प्रत्युत त्याग तथा प्रेम को देख कर होती है। जो पुरुष असत्य का, अशुभ का, असुन्दर का, अनावश्यक का त्याग करता है और सत्य, शुभ, सुन्दर एवं आवश्यक के प्रति अनुराग करता है वही वास्तविक ज्ञानी है। हम अपने सन्त परमहंस जी में इसी कसौटी से ज्ञान की महत्ता का दर्शन करते हैं। हम देखते हैं कि सन्त परमहस जी के मन को कभी मलिनता छू न पाती थी। जब ये प्रपचियो की भीड़ में उतरे, वर्षों उनके बीच में रहे, तब भी सदा जंजाल से मुक्त ही रहे, लौकिक तृष्णा ने कभी इनके समीप स्थान न पाया। प्रपंच को सदा फटकारते ही रहे। न किसी के आगे दीन बने, न किसी का स्वामित्व ही स्वीकार किया, न किसी से बँध कर रहे, न किसी को अपने से बांधकर चले—यही तो सच्चे ज्ञानी की स्थिति है। मुक्त रहना परम वीर होना, सर्वत्र विजयी होना, सुख-वभव की आसक्ति से दूर रहना, पशु वृत्ति से मन को सदा दूर रखना-यही तो ज्ञानी का स्वभाव है, यही तो हमने परमहंसजी में देखा।

सत्य ज्ञान की दृष्टि से ही परमहंस जी अपने अस्तित्व में

परमात्मा का अस्तित्व देख सके। तभी तो ये अपने अहंकार को सत्य के समर्पित कर सके थे और अभिमानशून्य होकर इतने विनम्र थे कि कभी किसी के प्रति कठोर, कटु, कर्कश वाक्यों का प्रयोग करते सुना ही नहीं गया। मैंने अनेक बार उन व्यक्तियों को इन सन्त सद्गुरु से अत्यन्त क्रुद्ध होते देखा, जो अपने को सेवक, शिष्य मानते थे। अनेक बार इनके शरणागत शिष्यों को आज्ञा-उल्लंघन करते, अथवा करके अपनी रुचि-पूर्ति के लिए चोरी करते देखा। उनमें से मैं भी एक हूँ। परन्तु ये महान् सन्त ज्ञानबल से अभिमानरहित होने के कारण ही सदा एकरस शान्त रहकर सदा दया कृपा की ही वर्षा करते रहे। इनमें कहीं विषमता नहीं देखी गई क्योंकि ये यथार्थ ज्ञानी सन्त हैं—ज्ञानी की कसौटी समता है, बुद्धि की स्थिरता है, मन की निश्चलता है। हमें यह भी स्मरण है कि जब परमहंस जी के समीप अनेक व्यक्ति अपने उद्धार, सुधार का प्रश्न लेकर आने और धीरे-धीरे साथ रहने लगे, उनमें से कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जो अपने असदाचरण दुर्व्यवहार के कारण ही प्रसिद्ध थे। हम दो-एक व्यक्तियों ने गुप्त रूप से गुरुदेव के निकट उनका जब परिचय दिया तब जो कुछ हमें उत्तर मिला, उससे हमे ऐसा प्रतीत हुआ कि ये सन्त हमसे अधिक हर व्यक्ति के विषय में जानते हैं। फिर भी 'आत्मवत-सर्वभूतेषु' की दृष्टि से शरणागत होने पर कोई कितना भी पापी अपराधी क्यों न हो उसका तिरस्कार नहीं करना चाहते हैं—यह है सन्त की समता जो विपरीत व्यक्ति तथा वस्तु के संयोग होने पर भी अडिग रहती है।

एक बार एक ऐसे सेवक आये, जो परमहंस जी के प्रति दृढ़-श्रद्धा रखते थे। इनके ऊपर कर्ज बढ़ जाने के कारण उनका मकान

नीलाम पर चढ़ा दिया गया था। वे सीधा एक तोला अफीम लेकर गुरुदेव के समीप उपस्थित हुये और अपना दुराग्रह प्रगट किया कि 'या तो हमारा मकान बचाओ या फिर यह अफीम खाकर मैं शरीर छोड़ दूँगा' मैं भी उनकी उल्टी बातें सुन रहा था। हमारे सन्त दीनता से यही कहते जाते थे कि भाई इसमें हम क्या कर सकते हैं परन्तु वे महाशय उत्तेजित हो रहे थे कि 'आपको मकान बचाना ही पड़ेगा। आप के आशीर्वाद से मुझे मकान मिला था।' इत्यादि बातें सुनकर मुझसे न रहा गया। मैं तो उनसे बिगड़ गया। उनकी सेवा भक्ति भावना पर लाञ्छन देते हुये उन्हें सेवक का जो कर्त्तव्य है उसका स्मरण दिलाने लगापर परमहंस जी तो एकरस जैसे के तैसे शान्त ही बैठे रहे। वे अपनी साम्यावस्था की दृढ़ चट्टान से किंचित् भी न हिले डुले, अन्त में उस सेवक के साथ जाकर जो कुछ उसने इनसे सयाहता लेनी चाही उसे दी। जैसे कोई किसी के हाथों का यन्त्र बन जाये, उसी प्रकार परमहंस जी अपने को आर्त-अर्थार्थी भक्तों के ज़िये दे दिया करते थे। यह है सन्त की, ज्ञान के प्रकाश में, बुद्धि की सत्य में अवस्थित और निरन्तर उसी सत्य लक्ष्य का ध्यान।

वास्तव में सन्त सत्पुरुषों मे जो ज्ञान देखा जाता है उससे लोभ, मोह, मान, मदादि दोष दुर्विकार नष्ट होते हैं। इसके विपरीत दुर्जनों में कदाचित् ज्ञान की वृद्धि होती है तो मान मदादि दोष और भी बढ़ जाते है। ये सन्त महापुरुष समस्त संसार के लिये अमूल्य निधि हैं क्योंकि स्वभाव से ही परोपकारी त्यागी हैं और इसीलिए ऐसे हैं कि परम सत्य के ज्ञानी है।

सन्त ही जीव को समयोचित सम्मति देते हैं। ये दूरदर्शी,

परिणामदर्शी होते हैं। जीव को दोषों का नाश, सद्गुणों का विकास, ज्ञान का प्रकाश जिस विधि से हो सकता है, यह सत्-दर्शी सन्त ही जानते हैं और वही उपाय बताते हैं। सभी सन्त ईश्वर-भक्ति की, आत्म-समर्पण की, परमात्मा में अहं को खोये रहने की अथवा सत्य से अभिन्न हो जाने की शिक्षा देते आये हैं।

सन्त परमहंस जी भी जिज्ञासुओं को इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण तत्व, सगुण रूप दोनों का ज्ञान, ध्यान बताते थे।

आपका कहना था कि तप के साथ जप करते हुये परमात्मा ही अपनी कृपा से ध्यान की डोरी देंगे, उसी से योग दृढ़ होगा। योग होने पर ही संसार से वैराग्य होगा। तत्पश्चात परमात्मा का परे-ज्ञान होगा।

प्राय साधक को ये सन्त किसी कठिन साधनाभ्यास की सम्मति न देते थे। आप प्राणायाम, मूर्तिपूजा, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा के विशेष पक्षपाती न थे। साथ ही किसी को मना भी न करते थे। अहंकार, अभिमान, कठोरता, निर्दयता, त्याग के लिए बहुत जोर देते थे। घर-परिवार, सम्पत्ति छोड़ने के लिए कभी किसी को न कहते थे। आप सन्त कबीर, पलटू, पीपा, भगत रैदास, गुरु नानक आदि प्राचीन महापुरुषों को ही परमात्मा के योगी मानते थे। वर्तमान समय के बड़े बड़े उद्भट् विद्वान जितने महात्मा प्रतिष्ठित हैं, उनकी विद्वत्ता का आप किंचित भी महत्व न देते थे। ये पुस्तकीय ज्ञान को माया का ज्ञान कहते थे।

ज्ञान के द्वारा ये सन्त परमहंस जी अपने को और सब जगत को भी ब्रह्ममय देखते थे। ज्ञान के बल पर ही ये किसी भी परिस्थिति के वशीभूत न होते थे। ज्ञानी होने के कारण ही

परमात्मा के प्रेमी अर्थात परम भक्त थे। इनकी बुद्धि शुद्ध थी, संकल्प पवित्र थे।

हम लोगों को सन्त सद्‌गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा द्वारा इसी प्रकार के मुक्तिप्रद ज्ञान को प्राप्त करना है और इसके लिए मन की वृत्तियों का पूर्ण निरोध करना होगा, सङ्गाभिमान से असङ्ग होकर रहना होगा। कल्पनातीत का अनुभव कल्पनाओं के अन्त होने पर ही होगा। वैराग्य और अभ्यास से ही सफलता सम्भव है। गुरुकृपा-द्वारा ही वैराग्य-अभ्यास सुलभ होगा। गुरुकृपा के लिए गुरुभक्ति दृढ़ होनी चाहिए। गुरु की आज्ञा-नुसार चलना, गुरु के वचनों में अटल विश्वास रखना ही गुरु-भक्ति है। गुरु की समीपता में अनुभव के लिए घोर प्रयत्न ही गुरु की सेवा है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि त्यागपूर्वक तत्वज्ञान से ही शान्ति मिल सकती है।

ये सन्त हम सबको यही बताते आए कि सत्य का ज्ञान अपने हृदय में ही छिपा है, ऊपर का आवरण (पर्दा) हटाकर उसे प्राप्त करना चाहिए।

देहाभिमान गलने पर सत्य का ज्ञान स्वतः हो जाता है। जैसे जैसे परे ज्ञान की दृष्टि स्थिर होती जाती है वैसे-ही-वैसे सृष्टि विलीन होती जाती है। सत्य ज्ञान के लिए बुद्धि की निर्मलता आत्यावश्यक है।

वास्तव में अपने साथ परमात्मा के होने से हमारा मोक्ष नहीं होगा, परमात्मा-आत्मा के ज्ञान से मोक्ष होगा।

प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न चक्रों से विशेष प्रकार की शक्तियाँ प्रस्फुटित होती है। निम्न चक्रों के द्वारा स्थूल कामना वासना-पूर्ति की शक्ति मिलती है। इसी प्रकार उच्च चक्रों के द्वारा पवित्र भावनाओं अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये शक्ति

मिलती है। शरीर में ऐसा भी चक्र है, जो ज्ञान का स्रोत है— उसे आज्ञाचक्र कहते हैं। इस चक्र के द्वारा ही स्मृति और ज्ञान का प्रकाश विकसित होता है। यह चक्र गुरु के स्पर्श से, प्रगाढ़ भक्ति-भावना से, ध्यानाभ्यास की दृढ़ता से, मंत्रजप अथवा उग्र तप से पूर्णतः क्रियाशील होता है। इस चक्र के खुलने पर बिना पढ़े ही सत्य ज्ञान प्रकाशित होता है; इस ज्ञान-प्रकाश में जो कुछ भी सामने आता है, उसका यथार्थतः वाह्याभ्यन्तर रूप दीखने लगता है। इस चक्र के जाग्रत होने पर स्वतः अनायास ही कविता बनाने की शक्ति आ जाती है। संसार में अनेक सन्त विलक्षण तत्व-ज्ञानी हुए हैं, जो कुछ भी पढ़े न थे। हमारे सन्त परमहंस भी ऐसे ही सिद्ध ज्ञानियों में से हैं। इन्हें जगद् और जगदाधार तत्व का बिना पढ़े-लिखे ही पूर्ण ज्ञान था। ये पुस्तकों को देखकर कहते थे कि ये तो वृक्ष में से झड़ी हुई पत्तियों के समान लिखी हुई बातें हैं, जिनमें सार तत्व नहीं मिलेगा। हम जब तत्वज्ञान की जिज्ञासा लेकर कुछ प्रश्न करते थे तब उसका गम्भीर उत्तर देते हुए यही कहते कि "उसका ज्ञान भीतर से होगा, भजन करो, जप करो, ध्यान करो, जो कुछ करो अंधाधुन्ध गति से करो, मन लगा के करो। सब जीव उसी परब्रह्म में रहते हैं, उसे अपने में खोजो। अपने को उसी परम ब्रह्म में अनुभव करो।"

हमारे सन्त परमहंस जी अपने आपको परमेश्वर में जानते हुए पूर्णता को प्राप्त हुए थे और अपने आप में परमेश्वर को देखते हुए निर्वाण पद मे पहुँचे थे, इसके साथ ही अपने आपको बिलकुल न देखते हुए एकमात्र परमात्मा को ही अनुभव करते हुए नित्यता के परमानन्द में तन्मय थे।

परमात्मा में अपने को और अपने में परमात्मा को अनुभव करना ही तो सत्य ज्ञान है।

जिस ज्ञान से सारा जगत चिन्मय दीखने लगे, उसे ही सन्त ज्ञान जानते हैं। आत्माकार वृत्ति को ही आत्मज्ञान् कहते हैं।

अपनी चित्तवृत्तियों को आत्माकार बना लेना ही अभ्यास है; विषयाकार वृत्ति को छोड़ना ही वैराग्य है।

आत्मज्ञान के लिये इस प्रकार नित्य अभ्यास और वैराग्य की दृढ़ता आवश्यक है। इसके साथ ही अपने क्षुद्र अहंकार को जीव-सेवा में नियुक्त करना होगा।

प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति से अनासक्त रहना होगा। बदले की इच्छा न रखकर जो कुछ हम हैं और जो कुछ हमारे पास है, उसे भगवान को समर्पित करना होगा। संसार के पदार्थों की क्षणभङ्गुरता को समझे रहना होगा। तभी पूर्ण भक्ति एवं मुक्ति सिद्ध होगी।

सन्त-सद्गुरु इसी ज्ञान-मार्ग मे चलते है। वे उस शान्ति को जानते हैं जो उसके प्रथम समझ में नहीं आ सकती। ये उस आनन्द का अनुभव करते हैं, जिसे सांसारिक दुःख कभी बाधा पहुँचा ही नहीं सकता। ये सन्त उस विश्राम को जानते हैं, जिसे भूडोल हिला नहीं सकता।

सन्त की दिव्य दृष्टि

सन्तों की दृष्टि बहुत ही पैनी अन्तर्भेदी दूर-प्रसारिणी होती है। किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति को आँखों के द्वारा पशु-पक्षी भी देखते है, उसी को दानव एव मानव भी देखते है परन्तु एक समान देखते हुए सबके अर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जब तक आँखों के पीछे इन्द्रिय-सुखोपभोगी मन काम करता है तब तक संसार की वस्तु अथवा व्यक्ति का कुछ और ही रूप दीखता है किन्तु जब नेत्रों के पीछे सत्य मे व्यवस्थित बुद्धि काम करती है तब प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति कुछ गुणों या दोषों का आकार मात्र न रह कर विराट् सत्य की झाँकी बन जाती है।

एक छोटे से पानी के मटमैले गर्त में एक साधारण व्यक्ति को जब कुछ मेढकों मछलियों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता, वहीं पर एक दूरदर्शी बुद्धिवाले महात्मा को एक-एक बिन्दु के भीतर विश्व-सृष्टि का दर्शन होता है। एक व्यक्ति को इस विशाल विश्व में अपने समीप दो-चार व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई अपना नहीं दिखाई देता, वहीं पर यथार्थदर्शी सन्त को ससार में कहीं कोई पराया नहीं प्रतीत होता। इतना ही दृष्टि-भेद होने से एक व्यक्ति को अज्ञानी कहते हैं और दूसरे को ज्ञानी महापुरुष कहते हैं। जहाँ अज्ञानी को नेत्रों से प्रत्यक्ष दीखनेवाला रूप सत्य प्रतीत होता है, ज्ञानी को वही रूप क्षण-क्षण बदलनेवाला मिथ्या प्रतीत होता है। इसीलिये जिस दृश्यमान रूप पर अज्ञानी मोहवश अनुरक्त होता है, ज्ञानी उसी रूप से विरक्त रहता है।

जब हम श्रद्धेय सन्त परमहंस जी के दृष्टिकोण पर गम्भीर

विचार करते हैं तब इनकी तत्वदर्शी, सत्यदर्शी ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रज्ञा दृष्टि का अनुभव होता है। इनके आस-पास कितनी ही प्रकार की सुन्दर मानी जानेवाली वस्तुओं की बहुलता रहती थी, जाति-पाँति के भेद-प्रभेद माननेवाले कितने ही व्यक्ति इनके समीप रहते थे परन्तु इनके मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते अनेक भिन्न-भिन्न नाम-रूपात्मक भावनाएँ एक चिन्मयानन्द में विलीन हो जाती थीं। इनकी कृपा-दृष्टि का अधिकारी जिस प्रकार एक ब्राह्मण था, उसी प्रकार एक शूद्र चाण्डाल भी था। इनके चरणों में एक पतिव्रता साध्वी देवी जिस प्रकार बैठ सकती थी उसी प्रकार एक वेश्या भी अपने कल्याण की साधिका बन सकती थी। हमने इन्हें एक राजप्रसाद से निकलकर दरिद्र की झोपड़ी में रूखी रोटी खाते और प्रेम से अपनाते देखा है।

मेरी धारणा बन चुकी थी कि ये महान् हैं क्योंकि इनकी सेवा में बड़े-बड़े प्रतिष्ठित धनी, मानी, राजा, सेठ, उच्चपदाधिकारी उपस्थित रहते हैं परन्तु उस दिन मैं देखकर चकित रह गया जब एक निर्धन वृद्धा के रोग-निवारणार्थ इन्हें औषधि तैयार करने के लिये चूल्हे में लकड़ियाँ लगाते तथा उसमें अग्नि फूँकते देखा। हमे स्मरण है कि कुछ दूर पर खड़े हुए इनके इस तरह के लघु कृत्य को देखकर अपने अभिमान पर हमें लज्जा आ रही थी। हम यह भी उस समय सोच रहे थे कि ये सन्त हमसे इसीलिये काम नहीं लेते कि हमारे अभिमान को कुछ ठेस न लग जाय। उस समय वाणी से नहीं प्रत्युत अपने कर्म से ये शिक्षा भी दे रहे थे कि 'कोई निरभिमानी ही दैवी सम्पत्ति का धनी हो सकता है।'

उसी दिन से मैंने समझना आरम्भ किया था कि महान् में कितनी नम्रनशीलता होती है और बहुत समय बिताकर यह

जान सका कि जो कोई अपने को धूल से भी तुच्छ मानकर संसार में जीवन-यात्रा करते हैं, वही सर्वोपरि महान् की प्रतिष्ठा अपने में कर पाते हैं। वही थे सन्त हैं, जिन्हे संसार मस्तक झुकाता है; वही थे सन्त हैं जिन्हें यह ससार ही अव्यक्त परमात्मा का व्यक्त रूप दिखाई देता है, अर्थात् सब कुछ ब्रह्ममय दीखता है। इस प्रकार की दृष्टि को ही सत्यदर्शी, तत्वदर्शी, दिव्य दृष्टि कहते हैं, जो सन्त के ही जीवन में होती है।

दिव्य दृष्टि के द्वारा निरन्तर शाश्वत सत्य आत्मा-परमात्मा को प्रत्येक नाम-रूप का प्रकाशक देखने रहने के कारण ही ये सन्त किसी व्यक्ति से घृणा न करते थे, किसी को नीच मान कर ग्लानि न करते थे और किसी पर क्रोध न करते थे प्रत्युत प्राणि-मात्र के प्रति दया-सहानुभूति का वर्ताव रखते हुए सबको प्रेम-पूर्वक अपनी शरण में स्थान देते थे, आज भी दे रहे हैं।

सन्त-चरित्र का मनन करते हुए यही समझ में आ रहा है कि जो यथार्थ सत्यदर्शी होगा, वही पूर्ण दयालु, नित्य क्षमावान् अनन्त कष्ट-सहिष्णु, सतत दानी, परमशान्त और हर एक दशा में, अवस्था में निर्भय रहेगा। यह भी स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि सुखोपभोग की तृष्णा-पूर्ति का पक्ष लेना, लोभी, मोही, क्रोधी, अभिमानी, ईर्ष्यालु, निन्दक होना अदूरदर्शी, असत्दर्शी, मन्ददृष्टि होने का प्रत्यक्ष परिचय है। मनुष्य कामना-पूर्ति के सुख में इसी-लिये आसक्त है कि कुछ दूर में, निश्चित होनेवाले दुखद परि-णाम को नहीं देखता। वह मन्द दृष्टि होने के कारण मोह के, लोभ के, क्रोध के भी अन्तिम अति कटु फल को नहीं देख पाता। इसीलिये तो कामी क्रोधी लोभी मोही को अदूरदर्शी कहा गया है।

सन्त दूरदर्शी होते हैं। इसीलिये ये ऐसा कुछ भी नहीं करते,

जिसका परिणाम दुखदायी हो, बन्धनकारी हो, पुण्यनाशक हो, पापपोषक हो।

दूरदर्शिता के कारण ही सन्त सद्गुरु में अटूट धैर्य देखा गया, स्थिर गम्भीरता देखी गई, क्षमा एवं सदा दया का ही व्यवहार करते पाया गया। इसीलिये तो ये सन्त भोगजनित सुखों से विरक्त होकर दोषों के त्यागी होकर केवल परमात्मा के ही अनुरागी होकर जगत् में विचरे क्योंकि ये दूरदर्शी सत्य-दर्शी दृष्टिवाले थे।

विश्व में जो कुछ भी देखने या सुनने में आता है, उसकी उत्पत्ति एकमात्र सत्य से ही होती है, स्थिति अथवा उसकी गति भी सत्य में ही होती है और अन्त भी सत्य में ही होता है। ये दिव्य दृष्टिसम्पन्न सन्त सब कुछ के आदि को जानते हैं और अन्त को भी। ये दूरातिदूर रहनेवाले अन्त को जिस प्रकार देखते हैं, उसी प्रकार निकट से भी अति निकट रहनेवाले सबके आरम्भ-स्थल को भी देखते हैं। साथ ही अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से आरम्भ और अन्त के मध्य में जो कुछ भी चतुर्मुखी विस्तृत दूरी है, उसे भी देखते हैं।

आज के भौतिक विज्ञानवेत्ता को अपनी जानकारी का गर्व होता होगा कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की दूरी को विज्ञान-बल से बता देते हैं परन्तु हमारे सन्त सद्गुरु बिना किसी यन्त्र के ही आसन पर बैठे-बैठे कुछ आँखों की दृष्टि बदल कर लोक-लोकान्तरों का दर्शन करते थे। आँख बन्द करके शरीर एकासन में स्थित रहता था परन्तु ये योगिवर लोकान्तरों की, सैर कर आते थे। इसका कुछ वर्णन इन सन्त के मुख से निकले हुए पदों में मिलता है। आज का वैज्ञानिक जो कुछ देखता है, उसी का वर्णन कर पाता है लेकिन हमारे पूर्वकालीन

सन्त महात्माओं ने पृथ्वी के उस भाग की नाप भी बता दी है, जो किसी प्रकार दीखती नहीं है, हिमालय की उस लम्बाई-चौडाई को बता दिया है, जो पृथ्वी में धसा हुआ है। युगान्तरों मे होनेवाली भविष्य घटनाओं का वर्णन हजारों लाखो वर्ष पूर्व लिख कर रख गए है। हमारे सन्त महात्मा सर्वोपरि दूरदर्शी सत्यदर्शी तत्त्वदर्शी है।

सन्त-जीवन संसार में भगवान् की दिव्य विभूति है। सन्त का जीवन बुद्धि, ज्ञान और अनुभव से सञ्चालित होता है, इन्द्रियों से नहीं। वह अपने लिये स्वय ही शास्त्र है क्योंकि उसने अहता ममता का त्याग कर दिया है, शास्त्रीय नियन्त्रण के लिये सन्त में कुछ रह ही नहीं जाता है।

अज्ञानी अदूरदर्शी के द्वारा प्रत्येक कर्म संकुचित या सम्वर्धित अहभावपूर्वक होते हैं। इस प्रकार के कर्मों से ही कर्ता फलभोग के लिए बद्ध रहा करता है। इसके विपरीत दूरदर्शी सत्यदर्शी सन्त के समस्त कर्म विश्वरूप भगवान् के लिए होते है। सत्यदर्शी ही जानता है कि प्रकृति की सारी प्रभुता, सारा कर्म, समस्त फल एकमात्र भगवान् के लिए ही हैं, भगवान् ही सबके उद्‌गम हैं, भगवान् की ओर ही सब कुछ की गति है परन्तु जब तक जीव अदूरदर्शी है, सीमिति, अहंभाव के आधीन है तब तक इस सत्य का अनुभव नहीं कर पाता, न वह इस सद्‌भाव से भगवान् के लिए भगवान् का होकर कर्म ही कर सकता है।

मन्द दृष्टिवाले जीव के सभी कर्म अहंकार की तुष्टि के लिए होते हैं। यह अहकार बन्धन की सीमा है, भगवद्-प्रीत्यर्थ कर्म करने पर ही कोई इस सीमा को मिटा सकता है और अन्त में मुक्त हो सकता है।

सन्त सद्गुरु की दूरदर्शी दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें बुद्धि को ऊर्ध्वमुख और अन्तर्मुख करना होगा। जब तक हमारी बुद्धि बहिर्मुख होकर अधोमुखी बनी रहेगी तब तक असत् के बन्धन से, मोह से मुक्त नहीं हो सकते, इन्द्रियों तथा मन के संयम से ही बुद्धि अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी हो सकती है। अन्तःस्थ निर्विषय आत्मानन्द ही हमारा सच्चा लक्ष्य है। इसी को देखना दूरदर्शिता है। सन्त-सद्गुरु हमें उसी ओर ले चलने का प्रयास करते आ रहे हैं।

सन्त और योग-सिद्धियां

योगी के जीवन का रहस्य कोई योगी होकर ही समझ सकता है। अथवा उसे ही कुछ आभास हो सकता है, जिसे योगी स्वयं अपनी कृपा से करा दे। यों तो स्वामी जी के दर्शन लाखों नर-नारी, वृद्ध, बालक सभी ने किये और इनके विषय में उन्होंने यह धारणा भी कर ली कि अच्छे सिद्ध महापुरुष हैं परन्तु जिन बातों को देख-सुनकर सर्वसाधारण मानव समाज ने स्वामी जी को सिद्ध पुरुष माना, यह कोई स्वामी जी की महत्ता का वास्तविक परिचय नहीं है। योगी महापुरुष इस संसार में अदृश्य गतिविधि से बहुत बड़े-बड़े काम करते हैं। प्राणिमात्र के कल्याणार्थ व्यष्टि और समष्टि के विकास में जो कुछ भी आवश्यक है, उसकी प्रेरणा इन योगी महापुरुषों के द्वारा ही हुआ करती है। जिस भयानक दृश्य को देखकर मानव कभी कट्टर आस्तिक और कभी कट्टर नास्तिक हो जाता है, वह हृदय विदारक संहार की क्रिया इन्हीं सन्तों के संकेतों पर नव सृजन के लिये हुआ करती है।

एक बार परमहंस जी ने बताया था कि इस भूतल में सृष्टि की रक्षा तथा उसके संचालन के लिए हम लोग बारह योगी नियुक्त हैं। हमारे अतिरिक्त और सब योगी गुप्त रूप से रहते और काम करते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में योगी पुरुषों का उपस्थित रहना बहुत ही शुभ है और किसी योगी का तिरोधान होना बहुत ही अशुभ है। जनसमूह के प्रबल पुण्यों के फलस्वरूप योगी पुरुष प्रगट

होते हैं और पुनः जनसमूह के प्रबल पातकों के फलस्वरूप योगि-जन इस भूमि से ऊपर उठ जाते हैं।

एक एक प्रदेश की तथा प्रत्येक प्रान्त के धर्मपरायण जीवों की रक्षा ये योगीजन ही अदृश्य रूप से किया करते हैं। मैंने अनुभव किया कि श्री स्वामी जी के महाप्रयाण-काल में पाँच-सात वर्ष पहिले से ही भारतवर्ष के कई सदस्य महात्माओं ने भौतिक शरीर का त्याग किया था। अन्त में स्वामी जी ने भी अपने महाप्रयाण के द्वारा भविष्य के संकटमय होने की सूचना दी और वह सब हम सब लोगों के सामने आता जा रहा है। संसार के संरक्षक योगियों में जब कोई इस ससार को छोड़ कर चला जाता है तभी प्रकृति में उलट-फेर, भयानक उत्पात, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोगों का प्रकोप, महायुद्ध आदि घटनाएँ घटती हैं। संसार त्रस्त हो जाता है। इस बात को योगी महापुरुष के शिष्य ही जानते हैं। जिनका योगी महान् पुरुषों से सम्बन्ध नहीं है, वे इस रहस्य को कैसे समझ सकते हैं?

योगी की शक्ति मानवी बुद्धि के लिए तो अपरिमित ही है। इतनी बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि सब योगियों में प्रायः एक ही प्रकार का सामर्थ्य नहीं पाया जाता।

यौगिक चमत्कारों से योगी की शक्ति नहीं नापी जा सकती क्योंकि किसी योगी में कहीं कहीं चमत्कार दीखते है और किसी में नहीं दीखते। "संचित शक्ति का अलौकिक रूप में प्रयोग करना ही चमत्कार है।" जैसे किसी महात्मा ने निष्प्राण शरीर में पुनः प्राणों का संचार कर दिया। वह मर कर पुनः जीवित हो गया, किसी ने अन्न के खाली पात्र से सैकड़ों व्यक्तियों को भोजन करा दिया, किसी ने जल को घृत बना दिया, पानी को सुरा में परिणत कर दिया, कोई प्रगट

दीखते हुए गुप्त हो गया अथवा सैकड़ों मील की दूरी पर उसी क्षण में प्रगट हो गया इत्यादि अनेक प्रकार के चमत्कार योगी में देखे जाते हैं और कहीं-कहीं किंचित् भी नहीं देखे जाते।

यह ध्यान रखने की बात है कि किसी प्रकार के चमत्कार से योग की महत्ता को नापना-तौलना भ्रमित होना है। यह तो सत्य है कि योगी दिव्यशक्ति से सम्पन्न होता है किन्तु यदि कोई दिव्यशक्ति का अज्ञानवश साधारण बातों के लिए उपयोग करने लगे तो वह शक्ति से वंचित हो जायगा।

यहाँ पर 'योग' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार साधारण व्यक्ति तप, त्याग, ज्ञान का सकुचित रूप देखकर भ्रान्त रहते हैं, उसी प्रकार योग का भी बहुत लोगों ने कुछ इधर-उधर से पढ़कर या सुनकर सकुचित रूप कल्पित कर रक्खा है। शास्त्रों में भी योग अनेक नामों से वर्णित है, जिसे हम सब लोग—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग, और कहीं पर अष्टांगयोग, ध्यानयोग, ऐश्वर्ययोग, प्रेमयोग, विरहयोग आदि नामों से पढ़ते सुनते हैं।

कुछ भी नाम हो परन्तु योग का तात्पर्य दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही है। दुःख के सयोग से जो रहित है, उसी की 'योग' संज्ञा है। उसकी सिद्धि ही अनेकानेक साधनों का लक्ष्य है। वास्तव में मन-वाणी एवं शरीर को सयत करनेवाला धर्म-व्यापार ही योग है।

कर्म करने की वह रीति, जिसमें कर्मों के फल कर्त्ता को बन्धन में न बाँध सकें, योग है।

जिस स्थिति में सारी इन्द्रियाँ निर्विषय हो जायँ, वही योग है अथवा दृश्य-जगत् से वृत्तियों के संयोग का वियोग करके

आत्म-स्वरूप में चित्त को स्थिर करना योग है अथवा कार्य मे कारण में अखंड रूप से सर्वत्र अनुभव करना ही योग है—जैसे आभूषण-रूप कार्य में कारण-रूप सोने को देखा जाता है।

कहाँ तक स्पष्ट किया जाय—चित्त को चिन्मय करने के साधन का नाम ही योग है।

इस प्रकार योग की अनेक परिभाषाओं के अनुसार जब हम योगीराज नागा बाबा जी महाराज की स्थिति को देखते हैं तब वे सभी परिभाषायें उनपर घटित हो जाती हैं। श्री सद्गुरु परमहंस जी की चित्तवृत्तियाँ पूर्ण निरुद्ध थीं। इनका मन अचं-चल था, बुद्धि समस्थिर थी, तभी तो ये नित्य परमात्मा में ही निवास करते थे। इनके नेत्र जब खुले रहते थे तब अपलक दृष्टि से सन्मुख देखते रहने पर भी, इनकी वृत्ति अन्तर्मुखी रह कर इस प्रकार समाहित रहती थी कि अपने आस-पास से आने-जानेवाले व्यक्ति का प्रायः इन्हें ज्ञान ही न होता था। शरीर वाणी, मन पर तो पूर्ण संयम था ही, इनकी इन्द्रियों का व्यापार भी निर्विषय था। ये इस दृश्य जगत्-रूप कार्य के पीछे कारण रूप अखंड चित् सत्ता का ही निरन्तर निजात्मा रूप में अनुभव करते हुए प्रशान्त रहते थे। श्री स्वामी जी मे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की इतनी सहज दृढ़ता देखी गई कि बालकों के साथ खेलते हुए भौतिक रूप के भेद का ज्ञान उन्हें विस्मृत-सा हो जाता था। खेल-कूद की हलचल में अंग-प्रत्यंगों की अगणित क्रियाओं के पीछे नित्य एकरस चिन्मात्र तत्त्व में ही डूबे हुए से दिखाई देते थे। सारांश—इनका चित्त चिद्रूप हो गया था जब कि और सब प्राणियों का चित्त जड़ रूप मे रहा करता है। इनका जीवन संसार में संसार के लिये ही था। ये अपने लिये संसार से कुछ न चाहते थे। ये पूर्ण निष्काम थे, क्योंकि इनमे किसी वासना की

स्फुरणा ही न होती थी। इस प्रकार के अनुभव इनकी निकटता में ही हुए कि वासना से मुक्त होने पर ही कोई निष्काम होता है और निष्काम होने पर ही कोई पूर्णयोगी होता है, जैसे कि श्री परमहंस जी थे।

ससार के सहस्रों प्राणियों ने निकट होकर या दूर रहकर परमहस जी महाराज की महती कृपा, दया करुणा का; उनकी दानशीलता, गभीरता, धीरता एवं कष्ट-सहिष्णुता का प्रभाव जहाँ पर जैसा उचित था, वैसा ही देखा और लाभ उठाया। परमहस जी ने परोपकारार्थ अपने को तपा-तपा कर निष्काम प्रेम एव सद्‌गुणों को व्यवहार में चरितार्थ किया है। आज का स्वार्थान्ध मानव भले ही न समझे किन्तु स्वामीजी ने अपनी अहैतुकी दया, कृपा एवं करुणा आदि सद्‌गुणों-द्वारा यही शिक्षा दी है कि इसी प्रकार हम सबको दूसरों के प्रति निष्काम प्रीतिपूर्वक दया क्षमा का भाव रखते हुए सेवा करनी चाहिए, सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, यथाशक्ति दान देते रहना चाहिए। इसके विरुद्ध जो सन्त सद्‌गुरु की इस प्रीति, रीति तथा नीति के विरुद्ध दूसरों को सताने रुलानेवाले है, स्वार्थी कठोर कृपण स्वभाववाले हैं, वे कर्तव्य धर्म से विमुख हैं और पाप के पथ में हैं। सच्चे श्रद्धालु शिष्य सत्संग-प्रेमी एव सन्तसेवी भक्त को चाहिए कि सन्त सद्‌गुरु की समीपता में जिन सद्‌गुणों से जिस पवित्र ज्ञान से उसे सन्तोष शान्ति एवं सहायता मिली है, उसी सपत्ति को अपने जीवन में प्राप्त करे अर्थात् स्वयं सयमी सत्कर्तव्यपरायण होकर दयालु दानी तपस्वी त्यागी तथा ज्ञानी और भगवत्प्रेमी बने। यही गुरुदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति का दिव्य फल है।

श्री सन्त सद्‌गुरु की सद्‌गुणस्वरूप गुरुता को जो शिष्य धारण करेगा, वही सच्चा शिष्य है और जो सद्‌गुरु के त्याग

को, ज्ञान को, प्रेम को अपने जीवन में चरितार्थ करेगा, वही सच्चा गुरुभक्त है। ऐसे योगवेत्ता, जिन्हें भगवान ने सर्वोत्तम माना है सब नियमों और बन्धनों से मुक्त हैं। वे कभी किसी से बहुत बोलते हैं और कभी किसी के बहुत छेड़ने पर भी कुछ नहीं बोलते। कभी तो वे जन-समुदाय से बहुत दूर रहते हैं और कभी वे किसी गृहस्थ के घर में भी पड़े रह सकते हैं। वे चारों आश्रमों से अलग पंचाश्रमी या अत्याश्रमी पुरुष हैं। वे नित्य सत्स्वरूप में अवस्थित रहते हुए तथा ज्ञान-ज्योति को अपने हृदय में देदीप्यमान अनुभव करते हुए वहीं से प्राप्त अमोघ दैवी शक्ति के प्रचंड और अखंड प्रभाव-द्वारा जगत् के कल्याणकारी होते हैं।

ये महात्मा सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते किन्तु गुप्त रूप से इनके साथ रहनेवाली सिद्धियों, शक्तियों से संसार का महत्कार्य पूर्ण होता रहता है, जिसे साधारण मानव-समाज देख भी नहीं पाता। ये लोक-लोकान्तरों को ध्यान-द्वारा देखते हैं। ये पूर्ण योगी योगनिन्द्रा में सदा जागते रहकर सोते हुए जगत् की रक्षा एवं सुधार करते हैं।

ये सन्त परम स्वतंत्र होते हैं और अपने ही दृष्टान्त से सबको यह बताते रहते हैं कि जीव कितना बड़ा अधिकार एवं पद प्राप्त कर सकता है। भगवान् की महती कृपा-द्वारा सुलभ शक्ति के सदुपयोग से जीव किस प्रकार लघु से महान् हो सकता है—सन्त सत्पुरुष सबको यही उपदेश देते हैं।

हम सब लोगों को गम्भीर बुद्धिपूर्वक सन्त महापुरुषों के महान् चरित्र से यही शिक्षा लेनी चाहिए और सांसारिक परिस्थितियों के बन्धन से विवेकपूर्वक ऊपर उठना चाहिए। जगत् के सारे तत्त्व जिनके वश में होते हैं, जो अक्षर अव्यय तत्व के परमज्ञाता हैं, जिनकी इच्छाशक्ति अजेय होती है,

जिनकी ज्ञानदृष्टि त्रिगुण प्रकृति पार देखती है, जो प्रशान्त गम्भीर निर्भय, पूर्णतृप्त परम विरक्त हैं, जिनकी बुद्धि प्रमादरहित और शुद्ध होती है, जो अन्त.करण साम्राज्य के स्वामी होते हुए अनिकेत अमानी हैं, सभी शक्तियाँ जिनके पास हैं, सब मन जिनके अधिकार मे हैं, जो मुक्त आनन्दरूप प्राणिमात्र के हितैषी एव सबके सुहृद् है—ऐसे महान् पुरुषों का असाधारण तेज और ऐश्वर्य वैभव देखकर किसके हृदय मे धीरज न बँधेगा तथा कौन शरण में आकर शान्ति-प्राप्ति की आशा न करेगा !

इनके दर्शन से किसका हृदय हर्षोल्लसित होकर पूज्यता के भावों से प्रगाढ़ श्रद्धा-पूर्वक गद्गद् न होगा। इनके सम्मुख कृतज्ञ होकर निश्छल भाव से कौन अपने को समर्पित न कर देगा। इनके सग से इनकी महत्ता को देख, और उस महत्ता की प्राप्ति के लिये अपने को ईश्वर-कृपा का अधिकारी सुनकर किसके हृदय में उसकी सिद्धि की अभीप्सा न प्रबल होगी। इनके श्री मुख से सर्वभावेन दु ख-निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति का साधन-पथ समझकर किसे उस परमार्थ पथ में चलने की रुचि प्रबल न होगी ! परन्तु ऐसे महापुरुष का दर्शन, सुसग, सुयोग प्राप्त होना किसी जीव के विशेष पुण्य अथवा विशेष भगवत्कृपा-द्वारा ही संभव है। इस समय बहुत पुरुष तो ऐसे है, जो अपनी विद्या के अभिमान में सन्त महापुरुषों की योग्य विभूति को दम्भ एव पाखण्ड कहकर बिना सोचे-समझे ही उसकी अवहेलना किया करते हैं।

बहुत पुरुष ऐसे भी हैं, जो अपनी कामना-पूर्ति की आशा लेकर निर्विचार श्रद्धा के द्वारा किसी साधु-सन्त वेष को देखकर ही सिद्ध महापुरुष होने का विश्वास कर लेते हैं। ये श्रद्धाहीन बुद्धिवादी अथवा बुद्धिहीन श्रद्धालु—दोनों ही सच्चे संतों को

परख नहीं पाते। आजकल ऐसे वेषधारी कुयोगियों की भी कमी नहीं है, जो विवेकहीन साधारण मनुष्यों के सामने अपने को सिद्ध-महात्मा बनाकर विभूति बाँटते हैं, कोई आशीर्वाद देते हैं, कोई भक्तों की कार्य-सिद्धि के लिये पूजा-पाठ, ध्यानादि द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करने का ठेका लेते हैं। ऐसे लोगों ने यदि दस धनी-मानी लोगों को आशीर्वाद दिया और उनमें से भाग्य वश यदि दो-तीन व्यक्तियों को भी सफलता प्राप्त हो गई जैसी कि प्रायः लोगों को मिलती ही है तब तो ऐसे लोगों की सिद्धि भली प्रकार प्रमाणित हो जाती है। अधिकांश यही देखा जा रहा है कि अन्धविश्वासी व्यक्ति बहुत साधारण बातों को लेकर किसी सन्त महात्मा को तौलने-नापने लगते हैं और साधारण वेषधारी लोगों को प्रायः 'सिद्ध' का पद प्रदान करते हैं; किन्तु सच्चे वीतराग तत्त्वज्ञानी सन्तों को समझ ही नहीं पाते, जब तक सन्त स्वयं समझाने की कृपा न करें। व्यवहारिक लाभ की आशा से यदि कोई सन्त-महात्मा के प्रति श्रद्धा एवं सेवा करेगा तो वह सन्त पद को नहीं देख सकता।

सन्त महापुरुष जीवों के उद्धार के लिये अथवा जगत्-कल्याण के लिये कैसे क्या करते है, इसका पूरा पता प्रायः किसी को नहीं मिलता क्योंकि सन्त महापुरुषों को इसका बखान तो करना नहीं है। यदि उनके विषय में कोई भ्रमात्मक धारणा कल्पित करता है तो भी उन्हें कुछ आपत्ति नहीं होती। योगी महापुरुषों की उपस्थिति मात्र से मानव-समाज का हित होता है। यद्यपि सामान्य मनुष्य सत्पुरुषों की शक्ति-प्रेरणा से अपरिचित ही रहते हैं तथापि जाननेवाले श्रद्धालु स्वानुभव से जान ही जाते हैं। बुद्धिमान सभ्य पुरुषों का तो यही कर्तव्य है कि ऐसे विरक्त योगी महापुरुषों की निश्छल सेवा करके उन्हे प्रसन्न

करते रहे। कोई भी मनुष्य-अपना लाभ या हित नहीं जानता, जितना सन्त महात्मा मनुष्य के हित की बात समझते हैं और तदनुसार ही वे सब कुछ करते हैं। मनुष्य की दृष्टि में कभी-कभी जो कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है, वही सन्त की दृष्टि से हितप्रद सिद्ध होता है। श्रद्धालु भक्त को तो सन्त की प्रसन्नता को ही सर्वोपरि लाभ एव निधि समझना चाहिए। सन्तों के, बड़ों के आशीर्वाद की शक्ति का सूक्ष्म प्रभाव कितना महान् होता है, यह बालक ही नहीं समझते। सन्तों के आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, संसार में वही मनुष्य वास्तविक पुण्यवान हैं। वे एक दिन अवश्य सन्त पद प्राप्त करेंगे।

आज के कुसग -प्रभाव से भले ही कुछ लोग योगिराज सन्त महापुरुषों की अलौकिक शक्तियों पर विश्वास न करें परन्तु जिन्होंने निरपेक्ष भाव से भारतीय और विदेशी ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वे सन्त महापुरुषों के जीवन-चरित्रों में आनेवाली विभूतियों एव अलौकिक घटनाओं से अपरिचित न होंगे। प्राचीनकाल से लेकर मध्ययुग एव वर्तमान समय में भी विभूति-सपन्न योगियों तथा भक्तों के अनेक दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, शुकदेवजी, अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि की बातें हमें दुहराने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अपने धर्मग्रन्थों में इन महान् विभूतियों के योगैश्वर्य का वर्णन युगों से होता आ रहा है। हम सबके लिये तो कुछ समय पूर्व के ही ऐसे प्रमाण बहुत हैं, जिनकी जीवन-चरितावली में अलौकिक घटनाओं का वर्णन पढ़ने-सुनने को मिलता है।

सर्वश्रीबुद्धदेव, शकराचार्य, कबीरदास, गुरु नानक, तुलसीदास, पलटू साहब, दरिया साहब, जगजीवन, चैतन्य महाप्रभु, पार्श्व-

-नाथ, महावीर, समन्त भद्र, नागार्जुन, तैलंग स्वामी, रामदास प्रभृति अनेक सन्त भक्त, योगी महापुरुष भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो चुके हैं। इसी प्रकार के ईसा, मूसा, शम्सतबरेज आदि अन्य देशवासी सन्त महापुरुषों को कौन नहीं जानता ? इनके योगैश्वर्य का वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

जिनके अन्तःकरण मे अपने लिए कोई इच्छा नहीं रह गई है तथा जो संकल्प-शून्य है, उनमें कदाचित् कोई संकल्प उत्पन्न भी होगा तो उसकी पूर्ति तत्क्षण होनी चाहिए। वे अपनी अपरिमेय शक्ति के द्वारा जो मानवी बुद्धि के लिए असंभव प्रतीत होता है, वही प्रत्यक्ष करके दिखा सकते हैं। योगिराज श्रीचन्द्रजी महाराज ने तो उन दिनों जब काशमीर का शासक याकूब था और उसके द्वारा वहाँ के ब्राह्मण-समाज पर अत्याचारों की वर्षा हो रही थी, उसे प्रभावित करने के लिए उसके मन्त्री के सामने धूनी से जलती लकड़ी निकाल कर भूमि में गाड़दी और उस यवन मन्त्री के देखते-देखते वह लकड़ी सुन्दर हराभरा वृक्ष हो गई। वही वृक्ष आज तक श्रीनगर के प्रतापबाग में श्रीचन्द्र चुनार नाम से प्रसिद्ध है, श्रीनगर की जनता आज भी उस वृक्ष को पूजती है। योगिराज श्रीचन्द्रजी के जीवन में अनेक अद्भुत चमत्कार पढ़ने को मिलते हैं।

अपने धर्मग्रन्थों में त्रिशंकु और विश्वामित्र की कथा है। विश्वामित्र ने अपने योगबल से त्रिशंकु को स्वर्ग भेजा परन्तु जब वह वहाँ से नीचे ढकेला गया तब इन्होंने उसे 'तिष्ठ तिष्ठ' कहकर अधर में ही रोक दिया। तब से वह त्रिशंकु वहीं रुका हुआ है। इसी प्रकार सन्त फ्रांसिस ने भी गिरते हुए पहाड़ के शिलाखंड को बीच में रोक दिया था।

श्री शंकराचार्य जी महाराज ने भी एक बार बढ़ती हुई नदी

की धारा को दूसरी दिशा में बदल दिया था। श्री सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज ने चांगदेव जी को शेर पर चढ़कर काले नाग का चाबुक लिए अपनी ओर मिलने के लिए आते देखकर उनके स्वागत के लिए उस दीवार को कुछ दूर तक चलने की आज्ञा दी, जिस पर कि वे स्वयं बैठे थे और उनकी आज्ञा से वह दीवार चेतन की तरह चलने लगी। इस प्रकार की घटनाएँ जब अनेक महापुरुषों के चरित्र में पढ़ने-सुनने को मिलती हैं तब अनेक महात्माओं की भिन्न भिन्न योगेश्वर्य की क्रियाएँ सुन कर पाठकों को कहीं भी इस बात का संदेह न रह जाना चाहिए कि श्री परमहंस नागा निरंकारी जी महाराज की दी हुई विभूति से रोग कैसे दूर हो जाते थे? कूप का खारा पानी कैसे मीठा हो जाता था? वे दूर से ही भक्तों की भावना को किस प्रकार गुप्त रूप से ही पूर्ण कर दिया करते थे? हम लोग आज इनकी अपरिमित शक्ति को भले ही न समझ सकें परन्तु यह सत्य ही है कि योगी महापुरुष में अलौकिक कार्य करने की विचित्र कला होती है। जिसका जितना ही अधिक संयमी और जितेन्द्रिय जीवन होता है, उसमें उतनी ही अधिक शक्ति सचित रहती है। उसी शक्ति के आगे जब कभी कोई संकल्प उत्पन्न हो जाता है, तब वह तत्काल ही पूर्ण होता है। अवश्य ही संकल्प की सिद्धि में योगी की शक्ति का ह्रास होता है परन्तु जहाँ जन-हित का लक्ष्य है, वहाँ शक्ति का ह्रास भी विकास के लिये ही होता है। उस क्षति की पूर्ति अनन्त के शक्ति भंडार से होती रहती है।

वास्तव में अटल विश्वास, दृढ़ इच्छाशक्ति और उत्कृष्ट तप के द्वारा अनेक असाध्य व्यापार भी सुसाध्य एवं सुसिद्ध होते रहते हैं। संचित शक्ति-द्वारा ससार में क्या-क्या हो सकना संभव है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार

भूलोक के स्थूल पदार्थों को लेकर मनुष्य स्वेच्छानुसार नाना प्रकार के गृहादिकों की रचना कर लेता है, उसी प्रकार शक्ति-शाल योगी अपने सुदृढ़ संकल्प के बल से भुवर्लोक के द्रव्यों पर जब अधिकार प्राप्त कर लेता है तब प्राणमय स्तर के द्रव्यों से किसी भी जड़वस्तु को अनुप्राणित कर सकता है। इसी शक्ति के कारण महात्माओं में नाना प्रकार के चमत्कार देखे सुने जाते हैं।

जब योगी का अधिकार मनोलोक के द्रव्यों पर हो जाता है तब वह अपने संकल्प से किसी भी पशु जीव में मनुष्य की भाँति भावना, विचार तथा भाषा आदि की क्रिया दिखा सकता है। इसी प्रकार जब विज्ञानमय लोक के द्रव्यों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तब योगीजन मानवी बुद्धि के जड़त्व को क्षण मात्र में चिन्मयत्व में परिणत कर सकते हैं। आत्मा के लोक में प्रभुत्व प्राप्त होने पर किसी भी मृतक जीव को जीवित कर देने की शक्ति योगी में आजाती है। श्री गोरखनाथ आदि के जीवन-चरित्र में ऐसी घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं।

श्रीस्वामी जी ने अपनी महत् शक्ति का समयानुसार दुखियों संकटग्रस्तों की सहायता में ही उपयोग किया है। ये व्यष्टि के तथा समष्टि के अथवा एक परिवार से लेकर समस्त देश एवं विश्व के भविष्य को स्पष्ट जानते थे। देश की स्वाधीनता का परिणाम, प्रधान नेताओं की अन्तिम गतिविधि का दिग्दर्शन जैसा कुछ बताया था, वही आज हम लोग देख रहे हैं और बहुत कुछ आगे देखना शेष रह गया है। उसे स्पष्ट करना उचित नहीं प्रतीत होता।

एक बार ये सन्त बदरीनारायण की यात्रा करने जा रहे थे; दो मूर्ति और कोई भी साथ थीं। ऋषीकेष के आगे लक्ष्मण झूला के ऊपर चलते हुए ये बीच-गंगा जी में कूद पड़े, उस स्थान में

जल बहुत गहरा है। साथवालोंने समझा स्नान के निमित्त कूदे हैं; किन्तु बहुत देर प्रतीक्षा करने पर भी जब इनका पता न चला तब तार-द्वारा इस दुर्घटना की सूचना कानपुर जिले के एक भक्त को देकर वे साधु अपनी यात्रा को चले गए। कुछ दिनों बाद ये सन्त जिला फतेहपुर मऊ नामक ग्राम में विचरते खेलते मिले।

सन्तों की सिद्धियों का सामर्थ्य विलक्षण होता है। सिद्धियों के आठ भेद शास्त्र में बताए गए हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और ख्याति ये योग की आठ सिद्धियाँ हैं। इनमें अणिमा, महिमा और लघिमा ये तीन सिद्धियाँ देह से सम्बन्ध रखती हैं। 'अणिमा' देह को अणु समान छोटा बना लेना, 'महिमा' अधिकाधिक भारी बना लेना, 'लघिमा'—कपास के समान हल्का बना लेना। 'प्राप्ति'—इन्द्रियों की महा-सिद्धि है। 'प्राकाम्य'—परलोक-सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान। 'ईशित्व या ईशिता'—माया और उसके अंशवाली शक्तियों की प्रेरिता सिद्धि है। 'वशित्व या वशिता'—कर्मों में अलिप्त रहने और विषय भोगों म आसक्त न होने की सामर्थ्य देनेवाली सिद्धि है। 'ख्याति'—त्रिभुवन के भोग और वांछित सुखों को दिलानेवाली सिद्धि है।

इनके अतिरिक्त दस सिद्धियाँ और भी होती हैं। जैसे १ 'अनूर्मि'—अर्थात् क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु इन षडूर्मियों से देह का बेलाग रहना। २ 'दूर-श्रवण सिद्धि'—अर्थात् अपने स्थान से दूर की बात सुन लेना (इस समय यह सिद्धि रेडियो के द्वारा प्रायः सभी को प्राप्त है)। योगी में श्रवण-शक्ति के बढ़ जाने पर यह सिद्धि होती है। ३ 'दूरदर्शन'—अर्थात् एक स्थान से बैठे-बैठे संसार के दृश्य देखने की शक्ति। ४ 'मनोजव'—अर्थात् मनोवेग से चाहे जिस स्थान पर पहुँच

सकने की शक्ति। ५ 'पूर्णकामरूप'—अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना। ६ 'परकायप्रवेश'—दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाना और अपना शरीर छोड़ देना।, 'स्वच्छंदमरण'—स्वेच्छा से जब चाहें तब अपना शरीर त्यागना। ८ देवक्रीड़ानुदर्शन'—स्वर्ग में देवताओं की क्रीड़ा देख लेने की शक्ति। ९ 'यथा संकल्प संसिद्धि'—अर्थात् संकल्पित वस्तु का तुरन्त प्राप्त होना। १० 'अप्रतिहतगति और आज्ञा'—अर्थात् वह सिद्धि, जिसके प्रभाव से सिद्ध की गति एवं आज्ञा का कहीं भी अवरोध न हो।

इन सिद्धियों के अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ और भी हैं। १—त्रिकालज्ञता, २—अद्वन्द्वता, ३—परचित्ताभिज्ञता (दूसरे के मन का हाल जान लेना), ४—प्रतिष्ठम्भ—अर्थात् अग्नि-जलादि तत्त्वों का असर न होना, ५—अपराजय—अर्थात् अजेय होना, सब पर विजय लाभ करना। भगवान् तो कहते हैं—

"जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥"

'जिसने पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों को शम-दम के द्वारा जीत लिया है तथा प्रखर वैराग्य-द्वारा जो प्राण-अपान को अपने वश में कर चुका है एवं विवेक बल से जिसने अपने चित्त को सावधान बना लिया है और मेरे निरन्तर चिन्तन से जिसने मनोविजय प्राप्त किया है, उसके लिए कौन सी सिद्धि दुर्लभ है ?' किन्तु सर्वोपरि सिद्धि तो परमानन्द की प्राप्ति है।

सभी वेदशास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में मुक्ति प्रदान करनेवाले दो मार्गों का वर्णन मिलता है। एक का नाम है पिपीलिका मार्ग और दूसरा है 'विहंगम मार्ग'। पिपीलिका मार्ग का योगी यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टांग योग के द्वारा शक्ति प्राप्त कर कभी ऊपर चढ़ता है तो कभी भोगों में शक्ति का उपयोग कर

नीचे उतरता है। इस प्रकार कितने ही जन्मों में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके पूर्ण त्यागी एवं परमात्मानुरागी होकर मुक्ति लाभ करता है।

विहङ्गम मार्ग का योगी भक्तिरस में अपने को डुबोकर ज्ञान-योग समाधि द्वारा चञ्चल मन को शान्त कर इन्द्रिय निरोध-पूर्वक कामना वासनाओं का त्याग एवं सर्वसंगातीत होकर अपने हृदयकमल में सनातन सत्य की चिन्मय ज्योति का दर्शन कर देव-दुर्लभ मोक्ष प्राप्त करता है। विहंगममार्ग शीघ्र मुक्ति-प्रद सीधा पथ है और पिपीलिका मार्ग जन्मान्तरों के चक्कर से क्रमशः ले जानेवाला मुक्तिप्रद मार्ग है।

राजर्षि जनक, महर्षि भृगु, योगिराज याज्ञवल्क्य, आदि महात्मा पिपीलिका मार्ग से परम पद को प्राप्त हुए और बाल-विरागी महात्यागी श्री शुकदेवजी, सनक सनन्दन, सनत्कुमार आदि ने विहगम मार्ग से मुक्ति जीवन का आनन्द लाभ किया। हमारे परमहस श्री नागा जी महाराज भी विहंगम मार्ग के अनुयायी थे। इनमें भक्ति और ज्ञान की अद्भुत पूर्णता थी। अपने को परमात्मा से कभी भिन्न न देखना, सर्वत्र उन्हीं में अपने को अनुभव करना, यही परमहंस जी की भक्ति है। ससार के सभी प्राणी परमात्मा के ही जीवात्मा हैं, सभी के प्रति दया करना, प्रेम करना, दया-प्रेमपूर्वक ही सबके साथ व्यवहार करना यही उनका ज्ञान है। वे शास्त्र-वेद-श्रुति स्मृति-पठन को तथा उनके शब्दज्ञान पांडित्य को ज्ञान नहीं मानते थे और न कभी कुछ सुनते ही थे किन्तु यदि किसी के तप की चर्चा होती तो उसे वे बहुत प्रेम से सुनते थे। प्रायः रामायण के सती-चरित्र को ही पढ़वाकर सुना करते और श्री सती जी के तप का अत्यन्त गम्भीतापूर्वक मनन करते थे। विश्वाकार में ब्रह्म के विराट् स्वरूप की उपासना, उसी का निरन्तर ध्यान-यही उनका

सहज योग है। इनकी अन्तर्लोकों के दिव्य दर्शन की दृष्टि खुली हुई थी। पुराणों एवं वेदों में वर्णित ज्योतिर्लिंग को श्रीपरमहंस जी एक खम्भे के आकार का बतलाते थे। उसी की ओट में परमात्मा सब जीवों को देख रहा है। यही उनके तत्वदर्शन की भाषा थी। वे भगवान् के सगुण विभूति रूप को ध्यान में स्वर्ण कमल के समान तथा श्वेत और श्यामवर्ण मे दर्शन करते थे। अविद्योपहित चैतन्य को वे छोटी आत्मा एवं मायोपहित चैतन्य को बड़ी (महान्) आत्मा कहकर परमात्मा का विचित्र ढंग से वर्णन करते थे। अपने शरीर-रूप पिण्ड में ब्रह्माण्ड-व्याप्त शक्तियों का दर्शन करते थे।

श्री परमहंस जी के शरीर पर वर्त्तमान में प्रचलित किसी भी संप्रदाय का कोई भी विशेष चिन्ह न था। फिर श्री विरागियों का विराग इनमें मूर्तिमान होकर झलकता था। सन्यासियों का ज्ञान दण्ड ये नित्य ही धारण किये रहते थे। उतसियों की उदासीनता तो इनके योगमय जीवन की भूमि ही बन चुकी थी। ये उत आसीन अर्थात् उत्कृष्ट तत्व में स्थित रहने के कारण ही उदासीन कहे जाते थे। अथवा ये उत आसीन अर्थात् जल समान शीतल, और सबके मल को धोने की शक्ति लिये हुए स्थित थे। ये माया में मिले हुए ब्रह्मतत्व को बिलगा कर देखते थे इसीलिये हस थे और उसीसे तन्मय-चित्त होने के कारण ये परमहस थे। ये अपनी वाणी से श्री गुरु नानक देव तथा सन्त कबीर के भावों-विचारों का बहुत ही आदरपूर्वक समर्थन किया करते थे। साधकों की उपासना आराधना के लिये किसी एक ही मंत्र या नाम अथवा एक ही रूप का पक्ष न लेकर साधक की श्रद्धानुसार नाम, मन्त्र या ध्यान का उपदेश देते थे। ये योगिराज सत्य ज्ञान से सत्य के ध्यान और प्रेम में पूर्ण सिद्ध थे।

सन्त संगातीत

संग होने पर ही 'मैं' का स्फुरण होता है। संगाभिमान की सीमा में ही 'मैं' नाम तथा रूप का आवरण धारण करता है। नाम-रूप का आवरण ही 'मैं' अर्थात् जीवात्मा का बन्धन है। नाम-रूप के संगाभिमान का त्याग ही मोक्ष है। नाम का जो रूप है, वही जगत् है और जिससे नाम-रूप प्रकाशित होते हैं, वही जगदाधार सत्य परमात्मा है। जगत् का जो संगी है, वही जगत् से बँधा है। जगत् के संगाभिमान से जो छूटा हुआ है, वही मुक्त है। श्री परमहंस जी नाम को, रूप को और नाम-रूप के अभिमानियों को साथ लेकर चलते हुए भी वास्तव में सर्व-संगातीत हैं। इस दृश्य जगत् के असंख्य रूपों के पीछे ये जो कुछ देखते, इस दिगन्त व्यापी कोलाहल के बीच में ये जो कुछ सुनते हैं, वह कौन देख-सुन सका, यह बताना कठिन है।

जब बालकों के समुदाय में इनका शरीर खेलने-कूदने में व्यस्त दीखता था तब ये स्थिर शान्त समाधिस्थ रहते थे और जब इनका शरीर एकाकी शान्त स्थिर बैठा होता तब ये अदृश्य रूप से जीवों की प्रार्थनाओं एवं आवश्यकतानुसार उनके हित-चिन्तन में संलग्न रहते थे। जब इनकी नेत्र, कान, रसना, नासिका आदि इन्द्रियाँ कार्य करती थीं तब ये सभी ऐन्द्रिय विषयों से पूर्ण विरक्त रहते थे। तथा जब ये इन्द्रियों से पूर्ण मौन रहते थे तब दिव्य ध्वनि, दिव्य रूप एवं दिव्य गंधादि के रस का आस्वादन किया करते थे। कभी-कभी पूर्ण निमीलित नेत्रों से शान्त बैठे हुए जब किसी विशेष आपत्ति-जनक घटना को देखते तब उसी दशा में कुछ बोल पड़ते और उस शब्द को

सुनकर निकटस्थ व्यक्ति जब उनके इस प्रकार बोलने का कारण पूछता था तब कुछ अदृश्य में होनेवाली घटना का संकेत कर देते थे। अधिकतर वे ग्रामीणों एवं गरीबों में ही रहे, उन-गरीबों में भी जो धनी होते हुए दिल से गरीब थे।

जो पाठक सज्जन किसी विरक्त सन्त से संबन्धित है या जिन्हें सन्त-शास्त्र पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे ही सन्तों के चरित्र का-रहस्य समझ सकते हैं। साधारण साधक की जब अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाती है, वहीं से उसे कुछ अन्तरंग क्षेत्रों द्वारा अन्तर्जगत् के अनुभव होने लग जाते हैं। अन्तर्मुख होकर ही साधक ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है किन्तु साधारण व्यक्ति भौतिक भोगों में आसक्त होने के कारण बहिर्मुख होकर ही अधोगति देखता है। योगी भौतिक जगत् के सुखों से, भोगों से तथा व्यक्तियों से असंग रहता है।

इस प्रकार की असंगता के कारण ही योगी में उच्चतम शक्तियाँ सुलभ रहती हैं इसीलिये योगी मे दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि बातें पाई जाती हैं। इसके विपरीत संगाभिमानी वस्तु की दासता में बद्ध रहता है इसलिये उसे असंग परमात्म-तत्त्व का योगानुभव नहीं होता। सारांश, संग का त्याग ही योगानुभव में साधक है और संग के प्रति राग ही सत्यानुभव में बाधक है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति को अपना मानते रहना ही संग है। स्वीकृति ही संग का जीवन है और अस्वीकृति से ही संग का खंडन होता है। जिस स्तर से स्वीकृति होती है, उसी स्तर से अस्वीकृति भी की जाती है। स्वीकृति या अस्वीकृति करने-वाले स्तर से ऊपर उठकर ही परमार्थी को सत्य का योगानुभव होता है। श्री गुरुदेव जी सर्वसंग के त्यागी हैं। यद्यपि देखने में वे अपने समीपवर्तियों के प्रति कभी-कभी प्रपंचियों की तरह

से ही बातें करते थे, किसी के दुःख में एक मोही जीव की भाँति आँसू बहाने लगते थे परन्तु यह सब कुछ आपकी दृष्टि में प्रकृति का स्वाभाविक व्यापार मात्र था। यदि उनसे कोई प्रश्न करता कि आपको अपने किसी भक्त से मोह है तो इसका वे जो कुछ उत्तर देते थे, उससे उनकी पूर्ण असंगता ही सिद्ध होती थी। श्री परमहंस जी संसार के सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखते हैं। देखने में कभी-कभी भ्रम हो जाता था कि स्वामी जी अपने किसी-किसी भक्त या शिष्य को विशेप रूप से चाहते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा न था। सबको अपने-अपने भावानुसार ही सद्‌गुरुदेव की ओर से उत्तर मिला करता है। ये अपने को इतने खुले रूप में सबके लिये मुक्त किये हुए हैं कि जो कोई जितना चाहे, उन्हें अपने में ले लेवे। ये स्वय किसी को न हटाते है, न बुलाते हैं। इनका किसी के प्रति भी भेद-भाव नहीं। इनके चाहनेवाले भक्त ही अपने प्रेम एव त्याग के कारण अधिकाधिक इनके निकट होकर दैवी शान्ति एवं भक्ति से लाभ उठाते हैं और जिनमें त्याग-प्रेम की कमी है, वे अपेक्षाकृत इनकी शक्ति शान्ति से वंचित रहते हैं। श्री परमहस जी से यदि कोई प्रश्न करता कि आपके अमुक भक्त या शिष्य कैसे हैं तो ये उसे अपना भक्त या शिष्य स्वीकार ही न करते। यही कह देते कि सब परमेश्वर के के जीव हैं, अपनी मौज से ससार में घूम रहे हैं।

ये दिव्यात्मा सन्त सद्‌गुरुदेव सबकी ममता एवं प्रीति का उत्तर सबकी भावनानुसार ही देते हैं परन्तु स्वय किसी से ममता नहीं रखते। सन्त सदा परमात्मा में निवास करते हैं इसीलिये ये ससार की किसी भी वस्तु का आश्रय नहीं लेते, न ये किसी व्यक्ति पर निर्भर रहते है। इनका स्पर्श न तो स्तुति-वन्दनाएँ ही कर पाती हैं और न कटु शब्द-प्रहार ही स्पर्श कर पाते हैं। ये

महान् सन्त आत्माएँ किसी के प्रभाव से विचलित नहीं होते। हम सबको इनकी असंगता से शिक्षा लेनी चाहिये। हम सब इसीलिए बन्धन-दुःख का अनुभव करते हैं क्योंकि संगाभिमान के त्याग से ही हमें शान्ति मिल सकती है और शक्ति भी सुलभ हो सकती है। श्री सन्त सद्गुरु की समीपता में पहुँचकर भी यदि हम संगाभिमान से मुक्त न हो सके तब तो फिर अन्य किसी के संग से असंग हो भी न सकेंगे। सन्त सद्गुरु का सत्संगी वही है, जो प्रपंच की संगासक्ति का त्याग कर परमार्थी बने और परमानन्द को प्राप्त करे।

सर्वसङ्ग से मुक्त पुरुष के लक्षण भगवान् ने भक्त उद्धव को बताये हैं, जो इस प्रकार है—कृपालु, अकृत-द्रोही, सत्यवादी, सदाचारी, सर्वोपकारी, तितुक्ष, शुचि, अकिंचन, निरिच्छ, मितभोजी, स्थिर, भगवद्शरण, अप्रमत्त, गम्भीर, धृतिमान, अमानी, मानद, मित्र, कारुणिक, कवि ये तीस लक्षण हैं। परमार्थी को इन्हीं की उपासना करनी चाहिये। श्री सन्त सद्-गुरुदेव तो साक्षात् इन लक्षणों के प्रतीक ही थे।

सन्त के सेवक

सन्त का जीवन ही वास्तव में मुक्त जीवन है। सन्त की उपस्थिति से जगत का कल्याण होता है, ये जिस देश में रहते हैं वह देश पुण्य तीर्थ बन जाता है, ये जो उपदेश करते हैं वह पावन शास्त्र बन जाता है, इनके द्वारा होने वाले कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं, इनकी समीपता में जो मनुष्य रहते हैं वह देव हो जाते हैं।

स्वय भगवान भी सन्त की महिमा गाते हैं; वे तो ऐसे सन्त के पीछे पीछे घूमते हैं जो निरपेक्ष हैं, शान्त हैं, निर्वैर और समदर्शी हैं।

ससार में अपने मन के सुख के लिये वस्तु और व्यक्ति की सेवा करने वाले सेवक लाखों दिखाई देते हैं किन्तु आत्मोद्धार के लिये विरक्त ज्ञानी सन्त की सेवा करने वाले सेवक कहीं-कहीं मिलते हैं।

हमारे इन पूज्यपाद सन्त के समीप भी अनेकों सेवक रहे, उनमें से कोई नितान्त निर्धन, कोई अत्यधिक धन सम्पन्न, कोई निपट अशिक्षित, कोई उच्चकोटि के विद्वान भी देखे गए। अनेकों सेवकों में गिने चुने चार पाँच व्यक्तियों को ही परमहंस जी की सेवा में सपरिवार को पवित्र बनाने का सुअवसर मिला है और इन सन्त सद्‌गुरु की अन्तिम सेवा का सौभाग्य प्राप्त करने वाला तो एक ही परिवार है--उसे हम पाली निवासी माता जी का परिवार कह रहे हैं।

यह पाली ग्राम, कानपूर से चौदह मील आग्नेय दिशा में है। कानपूर ज़िले में यह परिवार बड़े रईसों में गिना जाता है।

यद्यपि संसार मे बड़े बड़े रईस, राजे, महाराजे लाखों हैं किंतु तत्व दर्शियों की दृष्टि में तो यह लाखों धनी-मानी रईस राजे महाराजे सभी वस्तु और व्यक्ति की दासता में बद्ध एवं तुच्छ सुख भोगों के लिये दीन तथा दरिद्र ही हैं। इन लाखों राजे-महाराजों, रईसों और पूँजीपतियों में यथार्थ रूप में वही सौभाग्य शाली है जो अपनी शक्ति संपत्ति से दुर्भाग्यशालियों पर दया करता हो, उनकी रक्षा करता हो ; इसी प्रकार जो भौतिक संपत्ति का दान में, दुःखियों की सेवा में सदुपयोग करते हुए अनुपम दैवी सम्पत्ति से समलंकृत हो ; जो भोग जनित सुखों को तुच्छ जान कर अपनी इन्द्रियों को बुद्धि पूर्वक स्ववश रखते हुए परमात्मा का अनुरागी बन रहा हो।

इस पाली ग्रामाधिपति माता—के प्रति सन्त सद्गुरु देव ने जो महान कृपा का परिचय दिया वह इसकी धन सम्पन्नता एव विभव को देखकर नहीं प्रत्युत इस देवी की उत्कृष्ट श्रद्धा तथा सेवा से सन्तुष्ट होकर ही इसे अपना कृपा पात्र बनाया था। इस देवी की उत्कृष्ट श्रद्धा तथा गुरु की अनन्य भक्ति ही पूर्व जन्मों के सम्बन्ध की परिचायिका है, जैसा कि प्रसगोपात् श्री स्वामी जी ने एक बार बतलाया था। तभी से इस जीवात्मा का सम्बन्ध चला आता है।

पाली में योगीराज क्यों पधारे इसके पीछे विचित्र कथा है। वास्तव में सुख वैभव के बीच में घिरे हुए जीव को जब तक दुःखों का अनुभव नहीं होता तब तक सर्वाधार परमेश्वर प्रभु की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वैसे तो संसार मे ऐसा कौन सुखी है जिसे सुख के आगे आने वाले दुःख का भय न सता रहा हो। हाँ, ऐसा मनुष्य या तो निपट मूर्ख होगा या तो फिर कोई तत्त्वदर्शी महात्मा ही होगा जिसे सुख के आने में दुःख का भय

न लग रहा हो। सारांश, इन दो के अतिरिक्त सभी भयभीत रहते हैं। इस देवी का भी सुखी जीवन तो था ही उस समय सन्त सद्गुरु देव की शरणापन्नता को अवकाश ही कहाँ, कदाचित पूर्वजन्म के संस्कार यदि प्रेरित भी करते हैं तो भाग्यपथ में परिस्थिति की अनुकूलता तो बिरले ही किसी पुण्यवान् को मिला करती है।

सुख के दिनों में भला कौन सोचता है कि कभी अचानक दु ख की आग भी भाग्यपथ में धधक सकती है। कष्ट के कृष्ण सागर में तैरने के लिये तो कोई विरले ही बुद्धिमान तैयारी करते हैं। अन्त में प्रत्येक सुखी को अपने नेत्रों से अवर्णनीय मनः सन्ताप के कारण संज्ञाहीन करने वाली गर्म अश्रु-धारा बहानी पड़ती है। ससार में ऐसा कौन है जिसे लाभ के सन्मुख हानि का दु ख, सयोग के आगे वियोग का दुःख, सन्मान के आगे अपमान का दुख और जीवन के आगे मृत्यु का दुःख न देखना पड़ा हो।

इस सौभाग्यवती देवी को भी आकस्मिक पति वियोग का दुःख प्रगट हुआ। कुटुम्ब के ही किसी व्यक्ति ने संपत्ति-लोभवश, एक हत्यारे को प्रलोभन देकर इस देवी के पति को मरवा डाला। हत्यारे ने जिस रात्रि में सोते हुए इस प्रतिष्ठित सज्जन पर शस्त्राघात किया उसी समय इन परमहस जी को ध्यानावस्था में यह भयानक काण्ड दीख पड़ा और वह हत्यारा इस देवी के पति की देह को नष्ट कर 'सभवत. इस धर्मात्मा पत्नी की भी हत्या करने के विचार से ज्योंही आगे बढ़ा कि उसी समय अकस्मात् ध्यानावस्था में इन समर्थसन्त का [एक हाथ ऊपर को उठ गया। उस समय परम हंस नागाजी पाली से छ. मील दूर बरई ग्राम में आसन लगाये हुए थे। वहीं उनकी बाल लीला चल रही थी।

इनका हाथ उठ जाने पर भला संसार में किसको साहस है कि इनके रक्षित भक्त पर हाथ-उठा सके। उस हत्यारे को अपना विचार बदलना पड़ा, वह भयातुर होकर इतना घबरा गया कि वहीं उसे शौचक्रिया करनी पडी और वह तुरन्त महल के बाहर निकल गया।

पति के वियोग में एक प्रेमिका पतिव्रता नारी के दुःख का भला क्या अनुमान किया जा सकता है? इस महिला के चारों ओर अन्धकार था। यह अपने को पूर्ण अनाश्रिता अनुभव करती हुई दुखताप से झुलसते जीवन के दिन किसी तरह काट रही थी। अचानक किसी के द्वारा इस देवी को यह समाचार मिलता है कि हत्याकाण्ड में प्रमुख हाथ रखने वाले व्यक्ति बरई ग्राम में विचरने वाले सन्त नागाबाबा के पास इस आशा से गये थे कि सन्त की कृपा हो जाय, आशीर्वाद मिल जाय तो अभियोग से मुक्ति मिल सकती है। परन्तु श्री परमहंस नागा जी महाराज ने उस अभियुक्त की प्रार्थना पर यही कहा कि यदि तुमने यह पाप किया है तो यहाँ से छूट जाने पर भी दैवी विधान के द्वारा दण्ड पाओगे ही, और यदि निर्दोष हो तो तुम्हें कहीं भी भय न करना चाहिये। स्वामी जी ने यह भी बता दिया कि कुछ दिन में ही यह हाकिम बदल जायगा, दूसरा हाकिम जो आयेगा वह तुम्हें छोड़ देगा। इस प्रकार के सम्वाद को सुनकर इस दुःखी माता के हृदय में भी सन्तशरण लेने की सद्भावना प्रबल हुई और इस माता को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह पहुँचे हुये सन्त मुझ पर अवश्य दया करेंगे, इन्हीं की शरण में अब अपना लौकिक-पारलौकिक कल्याण होगा। इस पुण्यमयी प्रेरणा के अनुसार उसी समय इस व्यथित हृदया देवी ने अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति द्वारा अपना करुणात्मक सन्देश भेजा और अपने गृह में पधारने

की प्रार्थना की। परमहंस जी तो दुखियों पर दया करने के लिये सदा तत्पर ही रहते हैं, करुण प्रार्थना सुनते ही चल पड़े और पाली आकर कुछ बालकों के साथ इसके गृह में पधारे। इस दुखिया ने अपनी छोटी छोटी दो कन्याओं को सामने करके अपनी दुख की सारी कथा सुनाई, परमहंस जी का कोमल करुणार्द्र हृदय द्रवित हो गया, दुखी देवी के सीस पर अभयहस्त रखते हुए आश्वासन दिया कि 'घबराओ नहीं, अब हम हैं और तुम्हारी रक्षा करेंगे, तुम्हारे अब एक पुत्र होगा।' इतने बचन सुनते ही दुखी माता को अवर्णनीय शक्ति-प्राप्ति का अनुभव हुआ, अद्भुद साहस, नूतन स्फूर्ति से मुरझाये प्राणों में बल प्रदीप्त हो उठा।

आनन्द स्वरूप सन्त की समीपता मे दुःख की आग का शमन होना अनिवार्य है। उसी क्षण से देवी सन्त सद्गुरु की शरणापन्न हुई, जीवन को एक प्रकाश-पूर्ण परमार्थ की दिशा दिखाई देने लगी। उस समय कुछ सन्तोषप्रद वाक्य कह कर सन्त तो जहाँ से आये थे चुपके बिना किसी को बताये अपनी गति विधि के अनुसार लौट गए। कुछ महीने बीतने पर सद्गुरु के शुभाशीर्वाद से इस दुखी माता के एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम राम प्रताप सिंह रक्खा गया और श्री स्वामीजी ने अपनी ओर से इन्हीं का नाम अमरनाथ रक्खा।

यह अमरनाथ भी श्री स्वामी जी के पूर्व से सम्बन्धित आत्माओं में से हैं।

श्री परमहस जी से जितने भी सम्बन्धित जीवात्मा हैं उन्हें अपनी अपनी श्रद्धा एवं अपने अपने त्याग तथा तप अथवा दान धर्म के अनुसार स्वामी जी के अति निकट या दूर सभी को स्वकर्मानुसार दया कृपा पर अधिकार सुलभ हुआ है।

श्री परमहंस जी के आशीर्वाद से जन्म लेने वाले इस माता के पुत्र-रूप जीवात्मा का पूर्व जन्म में क्या नाम रूप था और श्री महाराजजी का संयोग कितने जन्मों से चला आ रहा है, इसका कुछ आभास श्री महाराज जी के द्वारा ही कुछ लोगों को मिला है किंतु उसे स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल समझाने के लिये इतना ही बहुत है कि जिन आत्माओं पर गुरुदेव की इतनी कृपा है कि अपनी सेवा के लिये अधिक से अधिक निकट स्थान देते है अवश्य ही वह जीवात्मा इनके अधिक निकट हैं, एवं कृपा पात्र है।

सन्त सद्गुरु अथवा भगवान तो शुद्ध भाव के वशीभूत होते है, और भाव की विशेषता त्याग तथा दान से प्रगट होती है। जो जितनी सरलता से दोपों का त्याग कर सकता है और अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओं का इष्ट देव की प्रसन्नतार्थ दान कर सकता है, वह उतनी ही सरलता से इनकी दया कृपा का पूर्ण अधिकारी होता है। सहर्ष त्याग तथा सर्वस्व के दान से ही प्रेम की पूर्णता प्रमाणित होती है और सहज तप एवं आज्ञा पालन की तत्परता से ही पूर्ण श्रद्धा का परिचय मिलता है।

जो विवेक पूर्वक सहर्ष त्यागी एवं तपस्वी है, जो सानुनय भाव से आज्ञाकारी और दानी है वही सच्चे प्रेमी एव पक्के श्रद्धालु हैं। इस प्रकार के श्रद्धालु प्रेमी ही सन्त सद्गुरु की परम गुरुता एवं पूर्ण कृपा के अधिकारी होते हैं। पाली ग्राम के इस सभ्य परिवार पर श्री गुरुदेव की विशेष कृपा रही। इस माता ने अपने पुत्र को श्री गुरुदेव की शरण में ही डाल रक्खा था। दिन रात शत्रु के गुप्त आक्रमण की आशंका इसके हृदय को भयातुर किये रहती थी। उस समय सशंकित हृदय से दिन

रात श्री गुरुदेव का ही चिन्तन करते हुए तथा इन्हीं की कृपा का पूर्ण भरोसा रखते हुए इस माता ने एक एक दिन करके आठ दस वर्ष बड़ी कठिनता से व्यतीत किये।

जब बालक सयाना हो गया तब इसकी भी श्री गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा विकसित होने लगी। जन्मान्तरों से परिवर्द्धित होती हुई गुरुदेव की सेवा करने की अभिलाषा प्रबल हो रही थी। महत्त्वाकांक्षा का उत्तर ऊपर से दया के रूप मे मिला ही करता है अतः गुरुदेव ने ठीक समय देख कर इन भक्तों को अपनी निकटता का अवसर दिया और ऐसा दिया जैसा किसी ने भी प्राप्त न किया होगा।

इस परिवार की श्रद्धा, अनन्य भक्ति एव सेवा देखकर गुरुदेव इन लोगों की रुचि के अनुसार अन्य भक्तों के यहाँ घूम-फिर कर भी अधिकतर पाली में ही अपना समय देते रहे। यहीं पर अनेकों व्यक्ति अपने आत्म-कल्याण के लिये परमहंस जी की शरण आये। कुछ लोग तो घर-बार छोड़ कर इन्हीं के साथ रहने लगे। परमहस जी की तो यह नीति ही थी कि चाहे कितना ही कोई अधम पापी भी क्यों न हो यदि शरण आ गया तो उसका त्याग नहीं करना है, उसे निराश नहीं करना है। तदनुसार ही इनकी शरण में सभी प्रकार के लोग आये और परमहस जी बराबर सब को आश्रय देते रहे।

प्रायः ऐसा देखा गया कि प्रत्येक प्रेमी को अपने अपने भावानुसार परमहस जी की शरण आते ही उसी समय अद्भुत शक्ति अथवा शान्ति का अनुभव हुआ। विहार-प्रान्त के एक सज्जन उदर रोग से इतने पीड़ित थे कि अपने जीवन से निराश होकर स्वामी जी की शरण में सन्यास लेने आये। स्वामी जी ने भी उन्हें गृह त्याग की सम्मति दे दी और अपनी विभूति

लगाई, उसी समय से उनका उदर कष्ट न जाने कहाँ छूमन्तर हो गया। उनका नाम श्री परमहंस जी ने रतन निधि रक्खा। यदि वे शरण न गए होते तो उन्हें इतना कष्ट था कि वे अधिक दिन जीवित न रह सकते थे। सन्त की शरण आ जाने के कारण ही उन्हें बीसों बरस साधन भजन करने का अवसर मिला (आज हम उन्हे बहुत सुन्दर संयमी विरक्त विवेकी साधु के रूप में देख रहे है)। इसी प्रकार अनेकों सज्जन गुरुदेव की शरण में आकर अपने जीवन को सफल बना रहे है।

एक व्यक्ति युवावस्था मे गृह सुख से विरक्त होकर गुरुदेव की शरण आये उनका नाम त्यागी जी रक्खा गया। दूसरे व्यक्ति अपनी भव्य आकृति प्रकृति के निराले सिद्ध हुए उनका नाम गुरुदेव ने केवल करण जी रक्खा, तीसरे व्यक्ति के बाल-विराग को देख कर न जाने क्या अनुभव किया, जिसके आधार पर उन्होंने शरणागत बालक का नाम पलकनिधि रख दिया। चौथे व्यक्ति ऐसे आये जिनकी वृद्धावस्था मे आवेश एवं उत्तेजना को शान्त होते देखकर उनका नाम शीलतजल रक्खा। पाँचवें व्यक्ति की बाल सुलभ कोमलता को देख कर उस शरणापन्न शिष्य का नाम बालकृष्ण रख दिया। छठवे शिष्य की स्वभाव बिलक्षणता को देख कर ब्रह्मयोगी तथा सातवें व्यक्ति मे वाक-चातुरी का अनुभव करते हुए चतुरचैन नाम रक्खा। इसी प्रकार सबकी आकृति प्रकृति तथा मनःस्थिति को देखते हुए तदनुरूप ही लोमपरिपि, शीलसैन, केशकरन, शुकदेव जी गुफावासी, सुमेरगिरि, मुर्छल जी आदि नाम शिष्यों के रक्खे गए। गुरुदेव की शरण में आने से सभी व्यक्तियों को अपनी अपनी भावनानुसार प्रगति मिली। सभी को अपने प्रति उनकी अनोखी दया, कृपा का अनुभव हुआ।

विरक्त शिष्यों के अतिरिक्त गुरुदेव की समीपता का सौभाग्य तथा सेवा का सुअवसर जिस प्रकार अन्त में पाली निवासी माता जी के परिवार को मिला उसी प्रकार फतेहपुर निवासी बाबू रामप्रसाद बद्रीप्रसाद कक्कड़ भी गुरुदेव की निकटता प्राप्त कर परिवार समेत प्रधान सेवकों में सन्मान्य हुए।

गुरुदेव के सेवकों में डिप्टी महेन्द्रपाल सिंह तथा बाबू रामनारायण आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी श्रद्धा में आदर्श प्रगाढ़ता देखकर चकित रह जाना होता है। ये अपने गुरुदेव को अपने से दूर देखते ही नहीं हैं। पुरुषों की अपेक्षा कुछ मातायें गुरुदेव की ऐसी विलक्षण भक्त हैं कि पुरुष तो उनसे पीछे ही दीखते हैं। स्थानाभाव के कारण आज हम गुरुदेव के प्रधान भक्तों का नाम भी नहीं दे पा रहे हैं। वास्तव में भक्तों के द्वारा ही भगवान की महिमा प्रगट होती है।

प्राय गुरुदेव के जितने भी प्रेमी बने सब आर्त्त और अथार्थी ही दिखाई दिये। जिज्ञासु भाव से तो कोई विरला ही आया होगा। परन्तु धन्यवाद श्री गुरुदेव की दया एवं उदारता को कि जो जिस भाव से आया उसकी पूर्ति के लिये जो कुछ भी करना पड़ा इन्होंने वही किया। अपने शरणागतों की दुःख निवृत्ति के लिये अर्थ की पूति के लिये कभी-कभी तो श्री गुरुदेव को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़े। कहीं-कहीं इतना अधिक परिश्रम करना पड़ा कि जिसका वर्णन करने में दुःख एवं संकोच होता है। यह सत्य रूप में देखा गया कि 'महान् ही नमते हैं।' हमारे गुरुदेव भगवान् कितने महान् हैं इसका अनुभव इनकी नित्य नमन शीलता को देखकर हुआ।

श्री गुरुदेव पूर्ण निर्भय हैं और अपने शरणागत को भी निर्भय करने वाले हैं। फिर भी इन्हे एक भय लगा रहता था कि

अपने द्वारा किसी भी जीव को दुःख न पहुँच जाय। ये दूसरों को सुख देने के लिये परम वीर देखे गये और दुःख पहुँचाने में अत्यन्त बल हीन से प्रतीत हुए। जब कि इसके विपरीत स्वार्थी-साधारण मानव दूसरों को दुःख देने में प्रायः बलवान दीखता है। और दूसरों को सुख देने में दुर्बल बन जाता है।

निर्वाण

जिस दिन महा प्रयाण समय था ॥

शशिशोभित निशि, प्रकृति शान्ति थी किन्तु भयानक मची क्रांति थी ।
जब कि हमारे जीवन धन के जीवन का प्रस्थान समय था ॥

मृत्यु मुक्ति में सघर्षण था आदि शक्ति का आकर्षण था ।
इधर योगिवर के द्वारा भी ईश-नियति का मान समय था ॥

कुटिल काल का कठिन कृत्य था परिवर्तन का नग्न नृत्य था ।
धर्म सत्य श्रीकीर्ति आदि का अधिकाशिक अवसान समय था ॥

इच्छित फलद अतुल दाया थी, रक्षक सदा सुखद साया थी ।
भक्ति युक्ति के पुण्य कल्पतरु, का यह अन्तर्धान समय था ॥

दिव्य धाम पर सुलभ विजय थी, शक्ति चेतना शिव में लय थी ।
किसी किसी को इस दर्शन का, मिला अमूल्य महान समय था ॥

चेतनता जड बन सोती थी, जडता चेतन वन रोती थी ।
इस अवसर में पञ्चतत्व की, भौतिकता का दान समय था ॥

ऐहिक लीला की समाप्ति थी, अच्युत पद की नित्य प्राप्ति थी ।
पथिक ज्ञाननिधि एक सन्त का, यही ब्रह्म निर्वाण समय था ॥
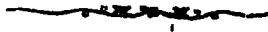
मुक्त सन्त का देह त्याग

जीवन मुक्त सन्त मृत्यु के भय से रहित होते हैं। ऐसे सन्त विश्वव्यापी नियमों को स्वतन्त्रता पूर्वक स्वीकार करते हैं। सन्त किसी से शासित नहीं होते, ये सत्याश्रयी होते है। श्री परमहंस जी इस भूतल पर कुछ लेने न आये थे। किसी भी प्रकार के ऐहिक सुख की वासना इन्हे जगत में न लाई थी—ये तो केवल देने ही आये थे। योगी महापुरुष किसी के ऋणी होकर नहीं रहते तभी तो वे मुक्त होते हैं।

श्री परमहंस जी भौतिक शरीर द्वारा सांसारिक कर्त्तव्यों को प्राय: जब पूर्ण कर चुके तब अपने स्थूल शरीर के त्याग की सूचना अस्पष्ट शब्दों द्वारा अपने निकटवर्ती प्रेमियों को देने लगे। एक दिन पाली स्थान में ही प्रसङ्गोपात कहने लगे कि 'हमने ध्यान में देखा है, इस चने के खेत में कुछ लोग हमारे शरीर को चिता में जला रहे हैं' तत्पश्चात् उसी स्थान में समाधि मन्दिर बनने का भी संकेत कर दिया। उस समय तो यह बाते समझ में किसी के न आ सकीं परन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष ही सब ने गुरुदेव के कथनानुसार ही सारे कृत्य किये और देखे तब पूर्व सूचना का अर्थ समझ में आया। इन्हीं पूज्य सन्त महात्मा की अस्थि समाधियाँ—बरईगगढ़, ककराली व असरगंज एवं चरण पादुका समाधि-मन्दिर फतेहपुर असोथर, तथा मूर्ति मन्दिर अठसरांय में बने है। वास्तव में सूक्ष्म स्तर में स्थूल दृश्य का आभास कितने ही महीनो या वर्षों प्रथम से ही मिलने लगता है, और सन्त योगी लोग सब शरीरों के दृष्टा होते हैं। अत: जिस स्तर की जो बात होती है उसे वे जान लेते हैं। जैसे कि हम जिस भव्य भवन को आज साकार रूप में देखते हैं वही भवन चित्र निर्माता के लिये महीनों पूर्व सन्मुख आ जाता है उसी प्रकार तत्व-दर्शी योगी के अन्तःकरण में भविष्य में होने

वाली घटना प्रतिभासित हो जाती है। वे वर्षों पहिले देखने लगते हैं कि देह का प्रारब्ध किन-किन रूपों में सन्मुख आयेगा। वे यह भी देख लेते हैं कि कहाँ पर नव सृजन होगा और कहाँ संहार होगा। भूलोक में होने वाला परिवर्तन देव लोक में कितने ही काल पहिले निश्चित हो जाता है। योगी की सर्वत्र अबाध गति है इसीलिये वह पहिले से ही सावधान हो जाता है। वह जानता है कि क्या आरहा है और क्या जाने वाला है।

योगी जनों के पीछे महामाया की प्रेरणा काम किया करती है उसी के आदेशानुसार ये महापुरुष पृथ्वीतल पर लोक कल्याणार्थ आते हैं और अपना काम पूरा करके प्रेरणानुसार समय पर चले भी जाते है। योगी महापुरुषों का जीवन चरित्र अद्भुत होता है वे अपने को जहाँ तक किसी अधिकारी भक्त को समझाते और दिखाते है बस वहीं तक कोई प्रेमी उन्हें समझ सकता है और उनके विषय में कुछ कह सकता है।

हमारे गुरुदेव श्री परमहस जी महाराज विलक्षण महापुरुष है। इनकी कुछ बातें अभीं तक समझ में न आई। इनके रचे हुए पदों का अर्थ प्राय. कोई समझ ही नहीं पाता जो कि उनके दर्शन का विषय है। श्री गुरुदेव जी भौतिक लीला समाप्त करने के कुछ वर्ष पहिले से यह कहने लगे थे कि मैं कैलाश जाऊँगा और वहीं तप करूँगा। इनकी यह अटपटी सी बातें प्राय' सर्वसाधारण पुरुषों की समझ में नहीं आतीं, परन्तु प्राचीन काल से महापुरुषों के जीवन-चरित्र मनन करने से स्पष्ट हो जाता है कि योगी अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी लोक को चले जाते थे। योगियों की सामर्थ्य में अवश्य ही न्यूनाधिकता का भेद रहा करता है। प्रत्येक योगी प्रत्येक लोक में अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही

प्रवेश कर सकता है। बाल ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता श्री शुकदेव जी की कथा चिरप्रसिद्ध है। उन्होंने योग बल से सूर्य मंडल में प्रवेश किया था। महाभारत में यह कथा है कि नारद का उपदेश सुनकर उन्होंने मन ही मन सोचा कि चन्द्रमा मे ह्रास-वृद्धि होती है अतः वहाँ जाना उचित नहीं। सूर्य अक्षय मडल है, वह अपने उज्जवल रश्मि बल द्वारा सब स्थानो से नित्य तेज खींचते है।

इसी से शुकदेव जी महाराज ने अपनी स्थूल देह को त्याग कर ऋषियों के साथ सूर्य मंडल में जाने की इच्छा की। तदनुसार शरीर में आत्मा का दर्शन किया। तत्पश्चात् नारद की प्रदक्षिणा कर पुनः योग बल से आकाश मार्ग में प्रवेश किया। उन्हे देव-लोक को जाते हुए देवता गन्धर्व अप्सरा रिषि-सिद्ध-मडली आदि सभी ने देखा और ये सब अत्यन्त विस्मित हुए। श्री शुकदेव जी की भाँति अनेक ऋषि महापुरुष योगी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों में जाते हैं और वहाँ के दिव्य सुखों का उपभोग करते हैं परन्तु कैलाश तो योगीश्वर भगवान (शिवजी) का धाम है। वहाँ भोग न होकर दिव्यतम योग की सिद्धि मिलती है। उस कैलाश धाम में जाने की सूचना योगिराज परमहंस जी प्रथम से ही देने लगे थे।

जो जिस देवता की उपासना करता है उसे उसी की प्राप्ति होती है। जिसका जितना अधिक उत्कृष्ट तप एव त्याग होता है देव धाम में भी उसे उतना ही ऊँचा स्थान प्राप्त होता है। कैलाश धाम की क्या महिमा है? वहाँ का ऐश्वर्य कितना महत् होगा इसका अनुभव भला भू-लोक में रहने वाले प्राणी को कैसे हो सकता है, वहाँ तो केवल योगियों की ही गति हो सकती है। योगीश्वर भगवान शिव को जो कोई अपने त्याग तप से सन्तुष्ट कर सके वही उनके कैलाश धाम में प्रवेश कर सकता है। ऐसा

उत्कृष्ट तप तथा त्याग परमहंस श्री नागा जी महाराज न किया जिसके बल पर वे कह सके कि 'मैं कैलाश जाऊँगा' और उसी लोक में वे प्रतिष्ठत हुये।

श्री परमहस जी जिस लिये इस भूतल में उतरे थे वह सब अपना काम पूरा कर चुके थे। अपने को संसार के युगान्तरों से चले आने वाले कर्मानुबन्ध के ऋण से मुक्त कर लेना तथा जिसके आगे विश्व विस्तृत है और जिसके पीछे विश्वाधार परम तत्व स्थित है उस हृदय ग्रन्थि को भेद कर विश्व से विरक्त और विश्वनाथ से अनुरक्त हो रहना ही तो इनका मुख्य काम था। हाँ इसके साथ ही और भी एक काम था—अपने आश्रित शरणागत प्रेमियों के दुःख दूर करते रहना, उन्हे परमार्थ सिद्धि के लिये साधन भजन में लगाना, सबको सन्मार्ग दिखाना—यह सब कार्य भी परमहस जी पूर्ण कर चुके थे।

वैसे तो ये अपने देव दुर्लभ महाप्रयाण के लिये पूर्ण निश्चित थे फिर भी कभी-कभी दीन दुर्बल भक्तों के बन्धन दुःख की निवृत्ति का प्रश्न उठाकर विशेष गम्भीर हो जाया करते थे। क्योंकि अपने शरणागतों के सकट निवृत्त करने एवं सबको निर्द्वन्द्व निर्भय देखने की इनके हृदय में बड़ी उत्सुकता रहा करती करती थी। शरीर की अनुपस्थिति में अपने से मिला रहने के लिये वे यही उपाय बताते थे कि 'जो कोई मेरा ध्यान करेगा उस पर मेरी दृष्टि रहेगी।'

आज भी यह स्पष्ट अनुभव होता है कि श्री गुरुदेव का साकार रूप तो हम सब के समक्ष नहीं है परन्तु इनकी कृपा शक्ति तो हम सब के साथ नित्य ही है और हम सब लोग अपनी अपनी पात्रता के अनुसार श्री गुरुदेव की ही शक्ति से नित्य निरन्तर अनुप्राणित हो रहे हैं। हम सबको आध्यात्मिक

नित्य सामर्थ्य के दाता एक मात्र श्री गुरुदेव भगवान ही हैं। भले ही अविवेकवश हम अपने सीमित अहंकार में अभिमान का रस लेने लगें परन्तु विवेक जाग्रत होने पर तो हम सभी लोगों को यही अनुभव होना चाहिये कि हम लोगों में जो कुछ भी शुभ तथा सुन्दर दीखता है वह सब श्री सद्गुरु प्रदत्त ही हैं। इस सबके पीछे श्री सद्गुरु देव की प्रेरणा कार्य कर रही है। जिनके हृदय में गुरुदेव के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है, उत्कृष्ट प्रेम है वे तो अपने रूप में श्री गुरुदेव की ही सत्ता-महत्ता का दर्शन एव अनुभव करते हैं।

पाली की श्रद्धालु माता जी ने एक बार श्री गुरुदेव जी से (जब कि वे अपनी कैलाश यात्रा अर्थात् शिवलोक जाने की बात कर रहे थे) पूँछा—भगवान् यदि आप हम सबको छोड़ कर चले जायेंगे तो हम सब की मझधार में पड़ी हुई इस जीवन नैया की दशा क्या होगी ? इस प्रश्न का उत्तर श्री गुरुदेव भगवान ने अत्यत संक्षिप्त शब्दों में यह दिया था कि 'हमारे पीछे यह सब शिष्य लोग रहेंगे ही यही सब करेंगे।' अब इस शिष्यों को भले ही कुछ करते हुए न पायें परंतु शिष्यों की ओट से तो आज भी श्री गुरुदेव बहुत कुछ कर रहे हैं।

श्री गुरुदेव भगवान के इस वाक्य का बहुत ही विशाल अर्थ है। वे परम तत्त्वज्ञानी अपने को केवल पाञ्च भौतिक शरीर की सीमा में ही आबद्ध नहीं देखते प्रत्युत इन्हे अपने परमात्मा स्वरूप का पूर्ण बोध है, जो कि नित्य शाश्वत एवं सर्वमय और सर्वातीत भी है। ये सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महतो महीयान हैं। इसीलिये यह सब से मिले रह कर सबको अपने भीतर समेट कर सर्वोपरि हैं। ये केवल एक नाम रूप में ही बद्ध नहीं हैं।

जहाँ असत्य सुख के भोगी परतंत्र एव पराधीन होते हैं वहीं

पर सत्य आनन्द के योगी परम स्वतंत्र होते हैं। ये काल के शासन में न रहते हुए भी काल से स्नेह करते हैं और सत्य नियम का समर्थन करते हुए काल की क्रिया स्वतत्रापूर्वक स्वीकार करते हैं। अपने इस महाप्रयाण के पूर्व ही एक दिन अपने निकटस्थ प्रेमियों के सामने जगन्नियात्मक, नियन्त्रक सत्य लोक से उतरे हुए आदेश को श्री गुरुदेव ने साधारण वाक्यों में प्रकट किया था जिसका भावार्थ यह था कि—'ऊपर से हमारे लिये भूलोक से चलने की सूचना आई है परन्तु हमने अभी अस्वीकार कर दिया है।' परमहस जी की पूर्व कही हुई इस बात का आशय यही दीखता है कि श्री परमहंस जी ने एक बार अपने महाप्रयाण की तिथि को टाल दिया था। समवत. इनके सम्मुख अपने भक्तों का कुछ विशेष कार्य शेष था जो कि इन्हीं के शरीर द्वारा पूर्ण हो सकता.था। प्राय. अपने ऊपर लिये हुए विशेष कार्यों की पूर्ति हो चुकने के पश्चात् दूसरी बार जगद्धात्री आद्या शक्ति ने अपनी इस पवित्रात्मा को जो वीत-राग महापुरुष के रूप में पृथ्वी तल पर जनकल्याणार्थ विचर रही थी, अपने दिव्य धाम में आने के लिये पुकारा। उस जगज्जननी की दिव्यवात्सल्य भाव सयुक्त प्रेममय पुकार को सुनकर ये ,महान् पुरुष फिर भला मृत्यु लोक में क्यों रुकते ? विक्रम सवत १९९३ का पावन कार्तिक मास था। इस मास की विष्णु पुराण में बहुत बड़ी महिमा लिखी है। इसी कार्तिक मास मे स्नान, दान, एवं व्रत के फल से महाराणी सत्य भामा को परात्पर भग-वान् की परम प्रियतम रूप में प्राप्ति हुई थी। इस कार्तिक मास में ही भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया था। इस कार्तिक मास की द्वादशी को ही भगवान् शयन से उठे और त्रयोदशी को देवताओं ने उनका दर्शन कर चतुर्दशी को पूजा की थी, इसी-

लिये सनातन धर्मावलम्बी सज्जनों के लिए यह तिथियाँ बहुत ही पवित्र महत्व पूर्ण हैं। श्री व्यास जी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के जागरण का बहुत माहात्म्य लिखा है। इस चतुर्दशी के व्रत तथा जागरण के पश्चात् पूर्णिमा को ब्राह्मण भोजन तथा दान के फल से भगवान् की प्राप्ति बताई गई है। इसी पुण्य मास कार्त्तिक चतुर्दशी की रात्रि में श्री परमहंस जी ने खड़े होकर बैठने के मध्य में ही भौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

कुछ लोगों की गणनानुसार इनके शरीर की आयु ढाई सौ वर्ष के लगभग निश्चित होती है। इतनी आयु बीत जाने पर भी इनके शरीर में कहीं भी झुर्रियाँ नहीं पड़ीं थी। ऊपर से जर्जरता एवं क्षीणता का लेश भी प्रतीत न होता था। किन्तु उन दिनों श्री परमहंस जी उस देह को कुछ कठिनता से खींच रहे थे और किसी समय भी उसे छोड़ देने के लिये तैयार हो चुके थे। परन्तु किसी को भी उस अन्तिम समय का पता न था। यह अपने शयनासन से उठ कर भवन द्वार के बाहर निकले। भला किसे इसका ज्ञान हो सका था कि क्यों निकले हैं, और क्या देखने निकले हैं? परन्तु अब तो यही कहा जायगा कि ये किसी भी बहाने से भवन-द्वार से ही नहीं प्रत्युत नव द्वार वाली इस देह से ही बाहर होने के लिये निकले थे। साथ चलने वाले साधु चतुर बैन ने उस देह को भवन द्वार से बाहर होते तो देखा परन्तु इस देह द्वार से बाहर जाते परमहंस जी को किसी ने भी न देखा। निकटवर्ती सेवकों के हाथों उनका शरीर गिरता हुआ मिला किन्तु दिव्य धाम की ओर उड़ती हुई श्री गुरुदेव की दिव्यात्मा किसी को भी दिखाई न दी।

अनुभव हुआ कि तुम कितने स्वतन्त्र हो, कितने स्वाधीन हो, कि जो तुमने खड़े होकर बैठने के मध्यकाल में ही अपने

शरीर को छोड़ दिया। साँप अपने केंचुल को छोड़ता है पर इतनी शीघ्रता से नहीं। अपने शरीर में पहिने हुए वस्त्र को मनुष्य उतारता है किन्तु इतने शीघ्र नहीं। यात्री अपनी निर्दिष्ट यात्रा के लिये अपने घर से बाहर होता है पर वह भी इतनी शीघ्रता से नहीं जितनी शीघ्रतासे तुम अपने देह रूपी मंदिरसे बाहर हुए।

वे पुण्यवान् पुरुष प्रातः स्मरणीय है जिनसे कुछ लेकर सद्गुरु की जीवन लीला का आरम्भ होता है। साथ ही वे भी धन्य हैं जिन्हें कुछ देकर इनकी ऐहिक लीला का अंत होता है। उतनी पृथ्वी भी परम पुनीत नित्य स्मरणीय है जहाँ सन्त सद्गुरु का आविर्भाव होता है और वह भूमि भी, जहाँ से इनके सर्व सुलभ दर्शनीय रूप का तिरोधान होता है। श्री गुरुदेव भगवान ने जिन स्थानों में जितना ही अधिक निवास किया है, तथा इनके शरीर से जो वस्तु जितनी ही अधिक सम्बन्धित रही है, इनकी सेवा का जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक अवसर मिला है उतना ही अधिक उस स्थान में, उस वस्तु में, और उस व्यक्ति में इनकी ओजस पूर्ण शक्ति के परमाणु भी सन्निविष्ट हुए है। इन तीनों के योग से कोई भी शिष्य भक्त श्री गुरुदेव से निःसृत आध्यात्मिक प्राण तत्व ग्रहण कर सकता है अतएव गुरुदेव से सम्बन्धित इन तीनों का सुयोग, श्रद्धालु शिष्य के लिये अत्यन्त हितप्रद है।

सन्त महात्मा संसार की एक ऐसी गुप्त निधि हैं जिन्हें कोई बुद्धिमान भाग्यशाली मनुष्य ही देख पाते हैं। उन देख पाने वालों में से भी कुछ व्यक्ति ही सन्तों के समीप आने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और समीप आने वालों मे से कोई-कोई पुण्यवान ही सन्त सदगुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञानुसार अपने जीवन को बन्धनों से मुक्त कर पाते हैं।

यों तो श्री परमहंस जी में श्रद्धा रखने वाले, इनकी पूजा स्तुति करने वाले सहस्त्रों नरनारी थे परन्तु अधिकांश व्यक्ति अपनी संकट निवृत्ति के लिये, अथवा किसी अर्थ की सिद्धि के लिये ही शरणापन्न हुए। ऐसे व्यक्ति केवल लेने की आशा से ही स्वामी जी के पीछे दौड़ते थे, देने के लिये तो जैसे इनके पास कुछ था ही नहीं किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त थे जिनमें लेने के साथ-साथ दान करते रहने की भी प्रवृत्ति थी। उन्हीं में से कुछ गिने चुने ऐसे भी भक्त निकले जो लेने से तृप्त होकर दूसरों को देने में ही सन्तोष करते थे। श्री परमहँस जी के सहस्त्रों श्रद्धालु प्रेमियों में से उनकी अन्तरंग कृपा के अधिकारी तो कोई-कोई पुण्यवान ही हो सके। यद्यपि परमहस जी ने अपनी कृपा गरीब अमीर बालक-वृद्ध ऊँच नीच सब के लिये समान रूपों में ही प्रदान कर रक्खी थी परन्तु सभी लोग उस कृपा से एक समान लाभ न उठा सके वरन अनेकों प्रेमी साधारण कामनाओं की पूर्ति से ही सन्तुष्ट होकर समय व्यतीत करते रहे।

श्री सन्त सद्‌गुरु के सन्मुख होकर जो जितना ही त्यागी होता है उनकी कृपा पर भी वह उतना ही अधिक अधिकार प्राप्त करता है। श्रद्धालु की सद्‌गति में श्रद्धास्पद के अतिरिक्त किसी भी वस्तु या व्यक्ति का मोह ही बाधक होता है। मोहनाश होने पर ही सत्यानुराग की सिद्धि संभव है। गुरुदेव भगवान से अभिन्नता की अनुभूति अर्थात् पूर्ण योग ही शिष्य की सर्वांगीण सफलता है और ऐसी सफलता सर्वोत्कृष्ट श्रद्धा पर ही निर्भर है। श्रद्धा के द्वारा ही सद्‌गुरु की महत्ता का अधिकाधिक ज्ञान होता है और महत्ता का ज्ञान होने पर ही श्रद्धा अधिक से अधिक बलवती एव सुदृढ़ होती है।

सन्त-स्तुति

हे युग युग के अमर योगी, परम वन्द्य महात्मन्! हे परमवुद्ध महापुरुष! तुम्हारे दर्शन या चरण चुम्बन का सौभाग्य जिन्हे मिला है वे धन्य है। उनमें से कदाचित् कोई अत्यन्त पतित ही क्यो न हो फिर भी तुम्हारे सन्मुख होने का परम पुण्य तो उसके साथ है ही।

धन्य हैं वे ध्यानी जिन्होंने तुम्हारे निश्चल चित्त को अपने ऊपर कृपा करने के लिए आकर्पित किया है। वे ज्ञानी भी धन्य है जिनके ज्ञान में तुम्हारे शाश्वत प्रेम की सुधामयी परम तृप्ति-कारी किरणें उतर रही है। हे युग-युग के अवतारी! हे अतीत के सन्दर्शक! महाव्याधिहर्ता तुमने न जाने कितने दुखियों की अश्रु से गीली पलकें सुखाई है, कितने ही पीड़ितों के मुरझाये मुखों में उन्हे केवल दर्शन देकर ही प्रसन्नता की हरियाली विखेर दी है, तुमने कितने ही दलितों दीनों की कुटियो में जाकर, उन्हे सौभाग्य पथ में प्रेरित करते हुए उनके दुर्भाग्य का अन्त किया है,—इसकी गणना तो तुम भी न कर सकोगे क्योंकि तुम्हारी अपरिमित शक्ति का तो दीनों, दुर्वलों, दलितों, दुखियों का त्राण करना, रक्षा करना, सहायता करना स्वभाव ही वन चुका है। इसीलिए हे अभय दानी, तुम्हे अपनी सतत दानशीलता का सभवतः भान ही नहीं होता।

हे अद्‌भुतअमानी! हे लोकोपकार व्रती! तुम्हे प्राणिमात्र पर हित-करने का निरन्तर ध्यान रहा किन्तु करने के पश्चात् उसका भान न रहा। हे समाहित चित्त! सत्य निर्भर! हे सत्य

संनिविष्ट दिव्य आत्मन ! तुम्हारी सुदूर प्रसारिणी भाव लहरों ने, विचार तरङ्गों ने मनुष्यत्व में दिव्यत्व के अवतरण का संदेश दिया है। हे जगद्भूषण ! तुमने अगणित भूले-भटके लक्ष्य विहीनों को लक्ष्य दिखाया और उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर जो कुछ भी करना पडा वही किया। हे ज्ञानोपदेष्टा ! तुम्हारे निर्मल नेत्रो से मधुर आकर्षक स्नेह की धारा भी बहती हुई जिसने देखी है, तुम्हारी मनोहर मुखाकृति जो तप के तेज से, त्याग की शान्ति से, ज्ञान के आनन्द से दीप्तमान थी जिसने देखी है वह भला तुम्हें कैसे भूल सकता है।

हे विपुल बल शालिन् ! हे उदार धीर अत्यन्त गम्भीर स्वामिन ! मैंने देखा है कि तुमने अपने तनको मनको भूल कर अपने शरणागतों, दीनों एवं दुखियों की किस प्रकार सेवाएँ की है। तुमने अपनी निरामय देह से न जाने कितनी देहों की व्याधि का भार वहन किया है; तुमने अपने सन्मुख दीखने वाले संकटो की कहीं भी चिन्ता न करते हुए निजजनों का उद्धार किया है। हे अधमोद्धारक ! तुम्हे शतबार प्रणाम है।

हे जनमन रञ्जन भक्त प्राण ! श्रद्धालु के जीवन ! तुम्हारे नयन प्रान्त से न जाने कितनी अन्धी आँखो को ज्योति मिली है जिससे उनका चिर अन्धकार दूर हुआ है।

हे परम श्रद्धेय बाल सखा ! हे भूतल पर अवतीर्ण परमेश्वर की आत्म ! तुम्हारी उपस्थिति मात्र से ही न जाने कितनी जरा-जर्जर देहो को जीवन प्रदायिनी प्राण शक्ति मिली है। हे आपन्न शरणागत के संरक्षक ! तुम्हारे स्मरण चिन्तन से ही कितने ही उच्छृंखल जीवन शान्ति के पथ में अग्रसर हुए है। तुम्हारे पवित्र ध्यान से न जाने कितने पतितों को पावनपथ सुलभ हुआ है, एवं दुर्बलों को आत्मबल, विपद्ग्रस्तो को अटूट

धैर्य, बुद्धिहीनों को उत्कृष्ट बुद्धि, चञ्चल प्रकृति वालों को अविचल दृढ़ता के साधन सुलभ हुए है।

प्राण सागर वालपति! तुममे ही तो प्राणों की धाराओं ने अपने को सद्गुणयुक्त होते देख विराम पाया है। तुम्हारे गम्भीर गहन ज्ञानसागर से मानव जाति के लिये परम तृप्तिकर धारायें निकली हैं जिनमें सन्निविष्ट होकर ही मानव निर्मल हो सका है।

हे अभेद द्रष्टा! प्राणिमात्र में परमात्मा के दर्शक! तुम्हारे परम प्रेम के व्यवहार का मनन करते हुए बुद्धिमान मानव प्रेम का पाठ सीख सका।

हे दोष दुर्विकार नाशक! तुम्हारी पवित्र प्रेरणा से मनुष्य निर्विकार एवं निर्दोष पद प्राप्त करने के लिये बढ़ सका। हे शक्ति के अचूक निर्झर! मेरे जीवन में उत्साह के दाता! तुम्हारा स्मरण आते ही मन में पावित्र्य मूर्त्तिमान हो उठता है। दम्भ नष्ट हो जाता है एव मूकभाव जाग उठते हैं, सद्गति की प्रेरणा मिलती है। शान्ति दिखाई देने लगती है क्योंकि बुद्धि चमक उठती है। हे सच्चे लोक हितैषी! तुम्हारी स्मृति में एक मधुर वेदनामय हूकभरी हृदय के हर्षोल्लास एव प्रेम भक्तिरस से आप्लावित आँसुओं की धारा बहने लगती है। हे परमहस! तुम्हारे चरित्र-मनन से दैवी भावों की बाढ़ आ जाती है और हमारे ससार संतप्त हृदय को शीतलकर सत्योपासना की प्रेरणा देती है।

हे अमगल हारी! चिर विजयी! तुम्हारा स्वार्थ सन्यास तुम्हारा ज्ञानदण्ड, तुम्हारा प्रेम परिधान हमें वह प्रकाश देता है जो और कहीं से भी न मिल सका। उस निर्मल प्रकाश में ही हम अपना अध्ययन कर पाते हैं कि तुममें और हममें कितना

अन्तर है। उसकी अलंघ्य दूरी कितनी सुगमता से लाँघी जा सकती है। उस कृपा को भी हम अपने चतुर्दिक देखते हैं जो तुम्हारी ओर से सदा सुलभ है।

हे त्याग और प्रेम के देवता! तुम्हारे हृदय के वीरत्व में हमें मरकर जीने का महामंत्र सुनाई देता है। तुम्हारी सकल स्पर्शी दृष्टि, गम्भीर दृष्टि, प्रेममयी दृष्टि हम पर भी पड़ती है और हमे कहीं सन्तोष तथा कहीं भय होता है यह जानकर कि तुम हमें सर्वत्र देख रहे हो।

हे मुक्ति पथ प्रदर्शक! संघर्षातीत महासन्त! तुमने मानवता के सन्तप्त हृदय पर प्रेम दया एवं करुणा की शीतल वर्षा की है। मुझे तो तुम्हारे ही जीवन से कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का अर्थ ज्ञात हुआ है।

हे शान्ति के पूर्ण अवतार! हे सत्य तत्त्व के एकान्त अन्वेषक! हे पतितोद्धारक! रागद्वेष से विहीन! सन्त रूप से तुम्हारे ही द्वारा सत्य धर्म का महत्व प्रगट हुआ है। तुम्हारे द्वारा ही तपस्या एव त्याग की महिमा प्रगट हुई है, तुम्हारे ही सहारे मानवता की भूमि में दिव्यता उतर सकी है।

हे शुभ्र मतिमान! लोकोपकारक गुणों से जन मन को मोहित करने वाले योगिराज! हमने अनेकों महात्माओं के दर्शन किये; किसी को उद्भट विद्वान, शास्त्र पारंगत पण्डित, कुशल वक्ता पाया; किसी को उत्कृष्ट तपस्वी, किसी को सर्वांग मौनी, किसी को आदर्श त्यागी, किसी को अपनी सुध-बुध भूलने वाला प्रेमी तथा किसी को आदर्श ज्ञानी आदि विविध कलाओं, चमत्कारों से पूर्ण पाया और बहुतों के विषय में सुना परन्तु अन्त में तुम्हें देख कर किसी को देखने की रुचि न रह गई; क्योंकि तुम हमें

सब कुछ के ऐसे समिश्रण मिल गये, जिससे कि हमारे लिये किसी प्रकार का अभाव शेष न रह गया।

प्रभो! मैंने तुम में ही पूर्णता का दर्शन किया और उस पूर्णता का दर्शन किया जो मेरी बुद्धि के लिये नाप-तौल की सीमा से परे की वस्तु है। तुम्हे देख कर बस इतना ही समझ सका कि तुम, पूर्ण के योगी, अपूर्ण के बन्धन से मुक्त पूर्ण हो; परमानन्द परमशान्ति एवं प्रेम से परिपूर्ण हो।

शमित्योश्म्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवा वशिष्यते।

सन्त दुःखहारी

[संदर्शिका-श्रीमती गिरिराज कुमारी, स्थान पाली]

संसार में सन्त महापुरुष ही सर्व भावेन दयालु, परोपकारी दीन जनों के दुखहारी, कल्याणकारी होते हैं—यह मैंने सुना ही नहीं, बल्कि इसी जीवन में प्रत्यक्ष देख भी लिया।

जीवन में यह भी अनुभव हुआ कि सन्त महापुरुष की आवश्यकता सांसारिक भोग सुखों एवं धन वैभव की .अधिकता में नहीं प्रतीत होती। भोगासक्त सुखी प्राणी को अपनी सुखद वस्तुओं तथा व्यक्तियो के अतिरिक्त दूसरी ओर देखने का तब तक अवकाश ही कहाँ है जब तक उसके सुख में बाधा नहीं पड़ती। सुख-भोगों में रत प्राणी सन्त महात्मा के स्मरण की कौन कहे वह तो परमाधार परमेश्वर का भी स्मरण नही करता। जब तक दुख की कृपा नहीं होती। यह सत्य ही है कि दूर से या निकट से दुख का अनुभव होने पर ही कोई दुःखहारी हरि की शरण लेता है।

मैं भी किसी समय अनुकूल परिस्थितियों की सीमा में अपने को सुखी मानती थी, प्रारब्ध योग से मेरे पति शरीर को एक हत्यारे ने कुछ धन के लालच में आकर कत्ल कर दिया। मेरा सारा सुख दु'ख में परिणित हो गया। उस समय दो छोटी-छोटी कन्याओं के अतिरिक्त अपना आत्मीय कहने के लिये कोई अव-लम्ब न रह गया।

हत्या कराने वाले अपने शत्रु पर सरकार की ओर से मुकदमा चल रहा था। अपने संरक्षक तथा शुभचिन्तक मित्र शत्रु के मुका-बले में वीरता से मेरा पक्ष तो ले ही रहे थे। उन्हीं के द्वारा सभा

चार मिला कि अपने ग्राम से छै मील दूर वरई ग्राम में विचरण करने वाले सन्त नागा बाबा के पास मुकदमे से छूटने का आशीर्वाद लेने अभियुक्त व्यक्ति गए हैं परन्तु सन्त ने जो कुछ उत्तर दिया उसे सुन कर मुझे निश्चय हुआ कि सन्त सच्चे न्यायी होते है। तब तो किसी सञ्चित पुण्यों की प्रेरणा से मेरे हृदय में इन्हीं सन्त के दर्शन की प्रबल अभिलाषा जाग्रत हो उठी।

अपने सहायक सम्बन्धी द्वारा जो कुछ प्रार्थना की, सन्त ने उसे स्वीकार कर लिया और इन्होंने अनायास ही मेरे गृह में आकर मुझे दर्शन दिये। उस दिन मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि सन्त अकथनीय करुणा के समुद्र होते हैं।

इनके दर्शन पाते ही, मैं निराश्रिता, दुःख की मारी फूट फूट कर चरणों मे गिर कर रोने लगी। कुछ क्षण में मेरे नेत्र सन्त के मुखारविन्द की ओर गए तो देखती क्या हू कि ये सन्त तो मुझसे भी अधिक बड़े बडे आसुओं की धारा बहाते हुए अत्यन्त दुःख से कातर हो रहे हैं। मुझे तुरन्त होश हुआ कि अरे मैं अपने दुख से सन्त के कोमल हृदय में क्यों आघात पहुँचा रही हूँ, उसी क्षण मेरा रोना रुक गया। मुझे प्रकृतिस्थ सावधान देख कर सन्त ने मेरी दुख कथा सुनने के लिये प्रश्न किया। मेरे मुख से सर्व प्रथम यही निकला कि भगवन् अब मेरा कोई आधार नही दीखता, मैं यहाँ अनाथ निराश्रिता हूँ। मेरे इस तरह के वाक्य सुनते ही उस भव्य तेजोमय मूर्ति से बहुत साहस सान्त्वना से सने हुए वाक्य निकल पड़े कि 'अब हम हैं'। इतना शब्द सुनते ही मुझे उसी क्षण इतना बल प्रत्यक्ष सा भासित होने लगा कि मेरा सारा भार यह सन्त उतार रहे हों; उसी क्षण मुझे अपने जीवन में विचित्र प्रकार का हलकापन अनुभव हुआ। उस दिन मैंने जाना कि सन्त दीन दुःखहारी होते हैं।

गंगा पाप को हरती है, चन्द्रमा ताप को हरता है, कल्प तरु दीनता को दूर करता है, किन्तु सन्त कृपा से तो पाप, ताप तथा दीनता तीनों एक साथ ही दूर हो जाते हैं; जैसा कि मैंने अपने परम दुःखी, दीन परितप्त जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इतना वाक्य सुनते ही कि 'अब हम हैं' मेरे भयानक त्रिदोष की वेदना दूर खड़ी दीखने लगी। सन्त ने सारी कथा सुन कर धीरज दिया और उसी रात्रि को अपने पूर्व स्थान में बिना किसी को बताये ही लौट गए। साथ ही एक विलक्षण आशीर्वाद भी देते गये कि घबराओ मत तुम्हारे दो कन्या हैं तो क्या हुआ अब की पुत्र होगा। मैं कुछ संदिग्ध रूप से गर्भवती थी।

जिस शुभ दिन शुभ घड़ी में सन्त के दर्शन हुए और मैंने भरपूर श्रद्धा विश्वास पूर्वक शरणाश्रय लिया उसी समय से मुझ में अपूर्व चैतन्यता आगई। पति वियोग का दुःख तो असीम था ही किन्तु उसे सहन करने की विलक्षण शक्ति मिल गई थी। उस दिन से मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि सन्त की कृपा से, शुभाशीर्वाद से, सन्त की समीपता में अद्भुद शक्ति का तन मन में सञ्चार हो जाता है। ये सन्त तो आकर उसी रात्रि में चले गए परन्तु इनका यह वाक्य कि 'अब हम हैं,' हमारे साथ रह गया और पग पग की कठिनताओं को सरल बनाने लग गया। कुछ दिन पश्चात् मैंने स्वयं बरईगढ़ जाकर सन्त योगिराज के दर्शन किये। साथ में भक्त हृदय मेरे पति की बहिन जो भी थीं उनके दुःखी हृदय को भी सान्त्वना दी और पहले से ही बता दिया कि इस बार इसके पुत्र होगा जिससे वंश चलेगा। उसी समय यह भी बताया कि जिस दिन यह हत्याकाण्ड हुआ था वह हत्यारा इस अबला को भी मार देना चाहता था लेकिन परमेश्वर की कृपा से उसकी मति पलट गई, दैवी शक्ति ने ऐसा न करने दिया, किसी प्रकार यह बच गई।

कुछ बातों से ऐसा प्रतीत हुआ कि इन सन्त की अन्तरात्मा ने इस दुर्घटना को दिव्य दृष्टि द्वारा देख लिया और वह हत्यारा जब मेरे शरीर को भी नष्ट कर देने को बढ़ा तब सहसा सन्त की अन्तरात्मा ने प्रबल कोप के कम्पनों द्वारा उस हत्यारे को भयातुर कर दिया वह अचानक शंकित होकर महल के बाहर निकल गया। उस समय मुझे यह ज्ञान हुआ कि सन्त अज्ञात रूप से अपने योग बल से अधिकारी जीवों की रक्षा भी किया करते है जैसे कि मेरे शरीर की उस हत्यारे के शस्त्र प्रहार से रक्षा की।

सन्त सद्गुरु ने हम लोगों को दु.खी देख पुनः समझाया, मस्तक पर अपनी विभूति लगाई और विदा किया। मुझे भी पूर्ण विश्वास हो गया कि सन्त की कृपा दया से अब हमारा कल्याण निश्चित है, तभी से मैंने समझ लिया कि रोना व्यर्थ है। सन्त सद्गुरु की आज्ञा का ध्यान रख कर इन्हीं का आश्रय लेकर जीवन बिताना है और इसी निश्चय के अनुसार मैं अपने दुखमय जीवन के दिन बिताने लगी।

फिर तो जितनी भी कठिनाइयाँ मेरे सामने आईं सन्त की कृपा से सबकी निवृत्ति होती गई। ये सन्त ही उन भयानक दु.ख के दिनों में अवलम्ब थे इन्हीं से एकमात्र अपनी पुकार थी। मैंने अनुभव किया कि सन्त प्रत्येक पुकार को सुनते हैं और अदृश्य रूप में सहायता करते हैं।

कुछ दिन बीतने पर मैंने पुनः सन्त सद्गुरु देव से पाली पधारने की प्रार्थना एक व्यक्ति द्वारा की, उत्तर मिला कि जब बच्चा पाली आयेगा (अर्थात् पुत्र जन्म होगा) तब हम आयेंगे। साथ में अपनी विभूति भेज दी। निश्चित समय बीतने पर सन्त के आशीर्वाद से पुत्र का जन्म हुआ। तब तो यह भी निश्चय हो गया कि सन्त अभीष्ट वरदाता और त्रिकालदर्शी भी होते है।

पुत्र जन्म होने पर तो हमारी श्रद्धा की सीमा भला कौन नाप सकता था, हमारे आसपास के संरक्षकों मित्रों के हृदय में पूर्ण अटूट श्रद्धा हो गई। पुनः सन्त सद्गुरु देव के दर्शन सुलभ हुए। आशीर्वाद से प्राप्त पुत्र को सन्त की गोद में डाल दिया उसे देखते ही सन्त सद्गुरु उस नवजात शिशु से ऐसे ढंग से बातें करने लगे जैसे कोई समझदार परिचित व्यक्ति से बातें करता हो। इन्होंने बालक को देखकर कहा, बारह वर्ष बाद मिला है बड़े घर से अब छोटे घर में आया है—इस प्रकार की बातों का अर्थ पूछने पर कुछ भेद प्रगट किया कि यह जीवात्मा एक जन्म में वैरागी साधु था फिर एक जन्म में राजा हुआ, रानी अभी बनी है यह शरीर छोड़ यहाँ आ गया है—इस प्रकार पूर्व सयोगानुभव की शक्ति को देखकर मैंने समझा कि सन्त सत्पुरुष का अपने भक्तों से जन्मान्तरों तक सम्बन्ध बना रहता है।

दर्शन देकर सन्त पुन. लौट गए और एक साल बीतने पर पता चला कि गुरुदेव असोथर में विराजमान हैं। यहाँ से अपने परम विश्वास पात्र व्यक्ति द्वारा समाचार जानने को भेजा। उनके पहुँचते ही सन्त सद्गुरु ने पूछा कि "बच्चा अच्छी तरह है ?" इस प्रश्न का उत्तर मिलने के पहले ही स्वयं बोल उठे कि "बच तो गया"। यह वाक्य सुन कर पाली से गये हुए ठा० दुल्ला सिंह तथा भदवरिया घबरा गए और पूछने लगे कि 'महाराज क्या बात है ?' उत्तर में गुरुदेव ने यह कह कर समझा दिया कि कुछ नहीं जैसा तुम उसे छोड़ आये हो लौटकर वैसा ही खेलता हुआ मिलेगा।

वहाँ से लौटकर इन दोनों व्यक्तियों ने पाली आते ही जब सुना कि बालक के ऊपर ४० हाथ लम्बा १० हाथ चौड़ा छप्पर गिर पड़ा था, एक देवी ने छप्पर तोड़ कर बालक को निकाला

भगवान की दया से किञ्चित भी बालक के शरीर में चोट नहीं आई—यह सुन कर सन्त के उन वाक्यों का अर्थ मालूम हुआ कि 'बच गया' क्यों कहा था।

इस तरह की घटनाओं से मैंने अनुभव किया कि इन योगिराज की कितनी दूर प्रसारिणी दिव्य दृष्टि है और अपने भक्तों के संरक्षण के लिये कितने लम्बे दिगन्त व्यापी दिव्य हाथ हैं।

ये सन्त ही हमारे एक मात्र सर्वभावेन संरक्षक माता पिता भ्राता की भाँति आधार हो गए। अब तो इन्हीं के दर्शन मनन ध्यान में संतोष होता है, इनके हो वियोग का दुख शेष रह गया था। सन्त का कहीं निश्चित घर बार तो होता नहीं, बीच बीच में कभी दर्शन मिलते कभी महीनों पता ही न चलता। सौभाग्य से जीवन में ऐसे भी दिन आये कि सन्त सद्गुरु ने पाली परिवार पर विशेष रूप में कृपा की और ऐसी की जैसी कृपा का हर एक को अवसर न मिल सका।

गुरुदेव के आशीर्वाद से ही जिस पुत्र रत्न की कोई आशा न थी वह पूरी हुई। बालक का नाम रामप्रताप रक्खा गया और गुरुदेव ने अमरनाथ नाम रक्खा। जब से इस बालक का जन्म हुआ गुरुदेव को सदा इस बालक की रक्षा का ध्यान रहा। शत्रु के अनेकों षडयन्त्र निष्फल हुए, धीरे धीरे अमरनाथ सयाने हुये। इनका शरीर बढ़ने के साथ ही साथ इनके हृदय में गुरुदेव के प्रति श्रद्धा भी बढती गई।

मैंने यह भी देखा कि योगिराज के हाथों द्वारा स्पर्श की हुई वस्तु में अद्भुत जीवनदायिनी शक्ति भर जाती है।

अमरनाथ को कई दिनों से जूड़ी के साथ तीव्र ज्वर आ रहा था। उन्हीं दिनों अचानक सन्त सद्गुरु सिसोलर से पाली पधारे। घर में आते ही बालक के वस्त्र बदले, विभूति लगाई,

उसी समय भोजन मँगाया; बालक को कई उपवास हो चुके थे उसी दशा में साग, पूड़ी, अचार, चटनी, दूध जो कुछ भी था सब पेट भर खिलाया और अपने आसन के पास ही अमरनाथ को सुलाया। स्वयं समीप बैठ कर ध्यानस्थ हो गए। दूसरे दिन फिर जूड़ी आगई परन्तु भोजन का कोई दुष्परिणाम न दिखाई दिया।

एक दिन प्रातः उठ कर अमरनाथ ने बताया कि आज रात में हनुमान जी आये थे अपनी पूँछ मे लपेट कर जूड़ी को ले गए अब आज से जूड़ी न आयेगी। सत्य ही, उसी दिन से बालक का जूड़ी ज्वर चला गया। उसके दूसरे ही दिन मुझे ज्वर तथा जूड़ी के आगमन का आभास होने लगा, गुरुदेव को यह बात विदित, होते ही उन्होंने विभूति लगा दी उसी क्षण मेरे शरीर की सारी वेदना शान्त हो गई किन्तु उसके पश्चात् मैंने देखा कि योगिवर के शरीर पर बहुत अधिक तापमान बढ़ रहा है, पता चला कि हम लोगों के सारे दोषों को गुरुदेव ने अपने ऊपर ले लिया है। किन्तु बिना किसी औषधि उपचार के जो कुछ जैसे अकस्मात् आया था वैसे ही चला भी गया। फिर तो मुझे अनेकों बार यह अनुभव हुआ कि सन्त सद्गुरू अपने भक्तों के कुल कष्ट अपने शरीर पर लेकर भक्त को रोग मुक्त कर दिया करते हैं। पाली में योगिराज जी ने नाना प्रकार की विचित्र लीलायें दिखाईं। इधर उधर से घूम फिर कर पाली को ही अपने विश्राम का स्थान बना लिया। धीरे धीरे यहीं पर अनेकों शिष्य शरण में आये।

सन्त-सद्गुरु अपने शरणागतों का कितनी ही पतितदशा में देखते हुए भी त्याग नहीं करते—यह भी मैंने प्रत्यक्ष परमहंस जी के समीप रह कर देखा। शरण में आये हुए किसी व्यक्ति के

आचरण की नीचता का अच्छी तरह पता लगने पर भी योगि-राज ने उसका अनादर नहीं किया। चाहे कोई दुराचारी व्यभि-चारी डाकू ही क्यों न रहा हो ये तो उस पर कृपा की ही वर्षा करते रहे।

यह सन्त भूलोक में रहते हुए अन्य लोकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते थे—अनेकों घटनाओं के द्वारा मुझे आभास मिला।

एक बार हम लोग बैठे थे, योगिराज ध्यानस्थ थे सहसा उसी दशा में बोल उठे कि देखो आकाश मार्ग से रथ जा रहा है उसमें दो मातायें (अलौकिक) शृङ्गार किये बैठी हैं और एक माता दूसरी देवी से मेरे विषय में संकेत कर रही है। यह इन्द्र के अखाड़े की देवियाँ हैं, इतना कह कर फिर ध्यानस्थ हो गए।

कभी शिव के ध्यान होने का वर्णन करते कभी विष्णु का ध्यान होना बताते। कभी ऊपर से अमृत वर्षा का वर्णन करते थे कभी एक विश्व के बीच में एक खम्भे की ओट में छिपे हुए परमात्मा की महिमा बताने लगते।

जब परमहंस जी विष्णु का ध्यान करते थे तब उनकी छवि में अद्भुत स्निग्धमोहक सौन्दर्य झलकता सा रहता और जब शिव का ध्यान होता था तब तो नेत्रों में विचित्र भोलापन आ जाता था, इसके विरुद्ध कभी बहुत ही उग्र विकट रूप बन जाता था कि सम्मुख देखने का साहस न होता था। सन्त सद्गुरु महान होते हुए अपने को अनाथों दीनों दुखियों की सेवा सहा-यता में कितना लघु बना देते हैं अर्थात् कितने छोटे छोटे काम करने में संकोच नहीं करते यह भी मैंने अपने जीवन में अनुभव किया।

यह पहले बताया जा चुका है मेरा जीवन धनवैभव के मध्य में रहते हुए भी निराश्रित था। मेरे आस पास कोई भी ऐसा

योग्य व्यक्ति न था जो मेरी गृहस्थी की नैया को भली प्रकार खेकर पार लगा देता। ऐसी अवस्था में इन समर्थ सन्त ने मेरी सभी जटिल समस्याओं को अद्भुत ढंग से हल किया। इन्हीं की कृपा से मेरी दो पुत्रियों के विवाह हुए। समय समय पर आने वाले प्रारब्ध वशात् संकट सदा ही इन्हे ही दूर करने पड़े। प्राय: मेरे सभी बच्चों के ऊपर आई हुई व्याधियों को अपने ऊपर लेकर स्वय अस्वस्थ हो जाते थे। बच्चों को, विभूति लगा कर भयानक रोगों से मुक्त कर देते थे। पुन. दूसरों के लिये हुए क्लेशों को स्वयं भोग कर बिना औषधि उपचार के ध्यान योग के द्वारा ही अपने को स्वस्थ कर लेते थे। योग बल से भला क्या नही हो सकता था। योगी का सम्बन्ध अत्यन्त शक्ति के भण्डार परमात्मा से होता है; अतः योगी में अपरिमित शक्ति होती है।

सन्त महापुरुषो की बात का अर्थ सन्त ही समझायें तभी समझ मे आता है।

एक बार प्रातः शयनासन से उठते ही मुझे पुकारा और गुरुदेव बोले कि 'अरे आज जो लड़ाई हुई उसे तूने समझा!' मैं बोली, नहीं महाराज, मैंने तो कुछ नहीं सुना, गुरुदेव बोले— अरे वह दो लाल साफा वाले आये थे हमसे बहुत विवाद हो गया। मैंने कहा महाराज, द्वार तो बन्द थे साफा वाले आदमी अन्दर कहाँ से आ गए। तब गुरुदेव ने स्पष्ट समझाया कि वे दूसरे लोक के सिपाही थे। हमें भी साधारण प्राणियों की तरह मृत्युलोक से ले जाने के लिये आये थे, मैंने कहा कि 'तुम अजर अमर आत्मा को जो कि मुक्त स्वरूप है उरा अपने नियम से बाँध कर नहीं ले जा सकते।' इस पर उन्होंने कहा कि हमारा तो यह काम है कि संसार के जीवो को यहाँ से ले जाना—इस पर मैंने कहा कि 'हम तुम्हारे ले जाने से नहीं जायेंगे, अपनी इच्छा से

जायेंगे। तुम हमें इस प्रकार नहीं ले जा सकते।' इस पर वे लोग यह कह कर चले गए कि अच्छा अब होशियार रहना, युद्ध होगा। उस समय इतना कह कर गुरुदेव ध्यानस्थ हो गए।

परमहंस जी के जीवन में शरीर के प्रति जैसी कुछ प्राण-नाशक घटनायें देखीं उससे यह ज्ञात हुआ कि भूलोक की सीमा में रहने वाले साधारण जीवों को तो अज्ञात रूप में ही मृत्यु के दूत कर्म नियम से बाँधकर ले जाते हैं परन्तु योगियों के ऊपर इनका नियम लागू नहीं होता तभी यह युद्ध करते हैं। जैसा कि मैंने देखा कि उस दिन ध्यान में इस प्रकार की पारलौकिक वार्ता के पश्चात् काल के दूतों ने युद्ध की सूचना देकर कुछ दिन में ही शरीर पर अचानक आघात किया जो कि पक्षाघात रोग के समान प्रतीत होता था। जाड़े के दिन थे आकस्मात एक ग्राम में भक्तों के साथ जाते हुए मुख, नाक टेढ़ा हो गया जिह्वा बढ़ गई बहुत ही कष्टकर दशा थी परन्तु परमहंस जी तो इस रहस्य को समझते थे बहुत ही गम्भीरता, धैर्यपूर्वक अपने ध्यान योग से इस आघात के परिणाम को तीन चार दिन में ही दूर कर लिया। पूर्ववत् स्वस्थ हो गए। अपने एक भक्त दुल्ला सिंह से बताया कि यह कोई बीमारी नहीं है यह तो काल से युद्ध चल रहा है।

कुछ ही समय पश्चात् स्वामी जी महाराज के पेट में पीड़ा होने लगी, भोजन छूट गया बहुत विकट वेदना थी जैसे कोई अदृश्य तीरों से मर्मस्थानों को बेध रहा हो परमहंस जी कष्ट का वर्णन करते हुए बहुत ही गम्भीर शान्त थे। कभी कभी मुझसे कह देते थे कि 'देख कितने वेग से ऊपर से बाण आ रहे हैं। कितना कष्ट देकर हमारा ध्यान तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।'

इसी दशा में गुरुदेव पाली से असोथर गए वहाँ रह कर अपने उपायों से शरीर को सम्हाल लिया।

कुछ समय भले प्रकार बीता, यत्र तत्र भक्तो के आग्रह वश भ्रमण करते रहे। पुनः अचानक रक्त के दस्त होने लगे उस समय गुरुदेव ग्राम शिमली में विराजमान थे। मैंने वहीं जाकर दर्शन किये। उस समय नित्य साठ सत्तर बार शौच में रक्तश्राव ही होता था। मुझे यह सदा स्मरण रहेगा कि सन्त महापुरुष कितने कष्ट सहिष्णु होते हैं। सत्य ही है कि बड़ी बड़ी विपत्तियो को सन्त महात्मा धैर्य्य से सहते ही रहते हैं।

एक दिन फतेपुर से मोटरकार लेकर भक्त बद्री प्रसाद, स्वामी जी को फतेपुर लाने के लिये पहुँचे। परन्तु थोड़ी थोड़ी देर में ही शौच जाना पड़ता था ऐसी दशा मे साथ रहने वाले शिष्यों ने स्वामी जी को यात्रा करने को मना कर दिया उस दिन तो मान गए, मोटर लौट गई और दूसरे दिन बैलगाड़ी और रेलगाड़ी से यात्रा करते हुए फतेपुर पहुँचे। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस दिन कई घन्टे मार्ग में सफर करते हुए एक बार भी शौच के लिये न जाना पड़ा। इससे यह पता चला कि योगियों की संकल्प शक्ति में सभी प्रकार का स्तम्भन बल होता है। फतेपुर तक मैं भी साथ आई वहाँ आकर मुझे गुरुदेव ने पाली लौट जाने को कहा किन्तु मैंने हठ किया कि आप को अस्वस्थ छोड़ कर मैं अभी न जाऊँगी। मेरा हठ देख योगिराज चुप होकर लेट गए। वहीं पर अन्य सब भक्त लोग बैठे थे उसी समय मुझे ऐसा दीख पड़ा कि अगाध समुद्र भरा हुआ है दूध का, उसमें स्वर्णवत सुन्दर तरंगें उठ रही हैं, उस समुद्र में सूर्य के समान गोल चक्र घूम रहा है और उसी चक्र में महा तेजस्वी एक माता दिखाई दीं, माता के शीश पर मुकुट है, उनका अद्भुत रूप देखकर संसार का ज्ञान भूल गया, उस अलौकिक रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। माता की गोद में गुरुदेव लेटे हुए

दिखाई दिये और गुरुदेव का शरीर (उस माता की गोद में) बाल्यावस्था में ही प्रतीत हुआ। माता आसन लगाये बैठी थीं और गुरुदेव के शरीर पर अपना सुकोमल हाथ फेर रही थीं साथ ही अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक मुस्करा रही थीं। इस प्रकार गुरुदेव भगवान ने दो घन्टे तक यह अभूत पूर्व दर्शन कराये। इनकी ही महती कृपा से मुझे यह दर्शन हो रहे थे। इधर गुरुदेव ने नेत्र खोले करवट ली, थोड़ी देर में उठ बैठे और पुनः ध्यान में तल्लीन हो गए।

समय मिलने पर मैंने गुप्त दृष्टि से दीखने वाली माता के विषय मे पूछा कि वह कौन थीं, गुरुदेव ने उत्तर दिया—वह हमारी माता हैं। इस प्रकार के दर्शन कराने का अर्थ यही था कि गुरुदेव ने उसी समय से उस व्याधि से अपने शरीर को मुक्त कर लिया। मैं भी पाली लौट आयी। कुछ दिन पश्चात् अट-सराय मे गुरुपर्व का सुअवसर आया। बहुत दूर दूर के श्रद्धालु प्रेमी एकत्रित हुए। उस महोत्सव में ही परमहंस जी के पैर में अचानक पीड़ा पैदा हो गई यह भी ऊपर से भी आकस्मिक प्रहार था।

यह वेदना ऐसी थी कि दिन पर दिन महीने पर महीने बीतने लगे। भक्तो ने आग्रह करके अनेकों उपचार किये किन्तु किञ्चित भी लाभ न हुआ। भला दैवी युद्ध का कष्ट कहीं सांसारिक औषधियों से जीता जा सकता है! गुरुदेव इसी दशा में चारों ओर भक्तों के यहाँ जा जाकर दर्शन देते रहे। बीच बीच डाक्टरों ने अपनी सारी शक्ति पैर के दर्द दूर करने में लगा दी किन्तु सफल न हो सके अन्त में गुरुदेव ने सबको समझाया कि तुम्हारे उपायों से यह कष्ट दूर नहीं हो सकता यह काल का युद्ध है अपने ही प्रयत्न से इसकी निवृत्ति होगी। अन्त में सबसे छुट्टी

पाकर पाली आकर गुरुदेव ने कहीं भी न जाने का निश्चय प्रगट किया। प्रेमी लोग दर्शनार्थ पाली में ही आने लगे। इधर गुरुदेव धीरे धीरे युक्ति पूर्वक सबको ऐसे ढंग से समझाने लगे जिससे कि भक्त लोग शरीर से मोह न करके आत्मा के ध्यान को ग्रहण करें। प्रायः गुरुदेव प्रेमियों से यही कहते कि अरे यह शरीर झूठ है इससे मोह न करना चाहिये आत्मा-परमात्मा ही सत्य है उसीसे प्रेम करो और सब झूठ है। आत्मा अविनाशी है शरीर को छोड़ देने पर वह नहीं मरती उसी को पकड़ो।

उन्हीं दिनों कपूर्थला के राजा साहब गुरुदेव के दर्शन करने आये। कोई कोई भाग्यशाली धनी मानी पुरुष बहुत तीक्ष्ण बुद्धि के पारखी हुआ करते हैं--राजा साहब परमहंस की तेजोमय-भव्य मूर्ति को देखते ही बोले कि "महाराज आप उत्तराखण्ड में रहने वाले योगी" इन महलों में कैसे आगए, मुझे तो बहुत आश्चर्य होता है। आपके मुझे यहाँ दर्शन कैसे हो रहे है ? यहाँ रहने का कारण क्या है ?" राजा के यह गूढ़ार्थ भरे वाक्य सुनकर गुरुदेव कुछ मुस्कराये और बोले कि इस लड़के (अमरनाथ) का पहरेदार बनकर यहाँ आ गया था। पूर्व जन्म का कुछ ऐसा ही संयोग है। राजा चुप हो गए। अपने कुछ प्रश्नों का एकान्त में उत्तर पाकर चले गए। इसी प्रकार नित्य ही अनेकों निर्धन तथा कितने ही धनी मानी दर्शक आते जाते रहते।

परमहंस जी संसार की ओर से मान बड़ाई से बचते रहने के लिये और पूर्णरूपेण अहंकार अभिमान रहित होने के कारण कभी अपनी ओर से चमत्कारों का प्रदर्शन न करते थे, किसी प्रकार की अलौकिक बातों या भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन संदिग्ध शब्दों में संकेत मात्र कर देते थे। एक दिन मुझे

बुलाया और कहने लगे कि देख ! "आज मैंने ध्यान में देखा है कि एक बड़ा सा विमान है, सुन्दर फूलों से सजाया गया है उसी में मुझे लिटा कर सब प्रेमी भक्तों ने अपने सर पर उठा कर एक चने के खेत में ले जाकर रक्खा और हमारे शरीर का अग्नि सस्कार किया है। गृहस्थ भक्तों की बहुत भीड़ एकत्रित है किन्तु साधु केवल चार ही हैं—(रतननिधि, सुकदेव, ईश्वर और चतुरबैन) सभी लोग विलाप करते हुये यहाँ दुःखी हो रहे हैं।" इतना कहकर फिर ध्यानस्थ हो गए उस समय इसका अर्थ कुछ कुछ तो समझ में आया किन्तु यह कैसे विश्वास किया जा सकता था कि सत्य ही ऐसा ही होगा। मुझे कुछ चिन्तित देखकर दूसरे प्रकार से समझा दिया कि 'अरे हमें तो अन्त में कैलाश जीतने के लिए अभी तप करना है लक्ष्मी जी से हमें यह वरदान मिला है, हमें कुछ भी नहीं होगा।' मुझे ऐसे वाक्य सुनकर कुछ निर्णय करने का साहस न हुआ।

एक दिन अकस्मात बहुत ही तीव्र ज्वर का आक्रमण हुआ। हम लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह दैवी युद्ध है। डाक्टर वैद्यों का उपचार काम नहीं दे सकता, इसीलिये इलाज के लिये कुछ कहने का स्थान ही न रह गया था कुछ ही समय में सहसा उस युद्ध का गुरुदेव वर्णन करने लगे कि रुक रुक कर शरीर के मर्म स्थानों में बहुत ही तीक्ष्ण शर ऊपर से बीधे जा रहे हैं।

उस वेदना को कितने धैर्य से परमहस जी सह रहे हैं—यह मैं कुछ कुछ तो अनुभव कर ही रही थी। किन्तु धन्य है तप का बल। योगीराज इस संकल्प पर दृढ़ हैं कि हम काल के शासन में नहीं हैं, इसका भेद आगे खुला कि काल का अधिकार कहाँ तक होता है।

गुरुदेव वर्षों प्रथम से यह वाक्य कहा करते थे कि अन्त में हमें शंकर को जीतना है कैलाश जाना है-इसका अर्थ अब स्पष्ट हुआ कि यह युद्ध शंकर भगवान की ओर से ही था अदृश्य रूप में कई दिन यह युद्ध लगातार चलता रहा। एक दिन परमहंस जी कुछ विशेष सावधान होकर ध्यान में बैठ गये रात्रि का समय था सबको हटा दिया। कुछ ऐसी माया फैला दी कि सब के सब सारी रात सोते ही रह गए। प्रातः स्वयं गुरुदेव ने आवाज़ देकर मुझे उठाया। सारी रात सोते रहने का स्मरण होते ही मन में खेद हुआ। गुरुदेव के सम्मुख आकर अपराध की क्षमा माँगी परन्तु जहाँ किसी अपराध की प्रतीति ही न हो वहाँ क्षमा करने की बात ही क्या चले। गुरुदेव ने प्रसन्न चित्त से अपनी बात कहनी आरम्भ की। गुरुदेव बोले—"वे ही लोग जो पहले आये थे—तब तो सीस की तरफ खड़े हुए थे, तब दो जने थे और आज अकेले ही आये, मेरे सामने खड़े रहे।" इतना कह कर प्रसन्न चित्त दूसरे आसन पर जा कर बैठे, आश्चर्य की बात थी कि इतना घोर कष्ट अचानक ही आज कहाँ चला गया। न तो पैर में पीड़ा है न ज्वर है न कोई अन्य वेदना है। तीन वर्षों से एक न एक दुःख वेदना का प्रहार चलता ही आ रहा था किन्तु आज तो अद्भुत विश्राम की दशा झलक रही थी। एक विचित्र बात यह थी कि गुरुदेव के दर्शनार्थ जितने भक्त इन दिनों आ रहे थे उनके साथ कुछ ऐसी बातें कर देते थे जैसे कि स्वयं कहीं को तैयारी कर रहे हों। यह भासित होता था कि अब बहुत दिनों के लिये विछोह होने वाला है।

इन्हीं दिनों में एक रात को मैंने देखा गृह द्वार के बाहर एक पलँग पड़ा है पश्चिम की ओर सर किये गुरुदेव लेटे हैं, मैं पास

ही खड़ी देख रही हूँ, उसी समय घर के भीतर से एक दिव्य रूप में महात्मा निकले उनके मुख में अद्‌भुत् सौन्दर्य है एक चादर ओढ़े हैं, वे भगवान गुरुदेव के दाहिनी ओर आकर खड़े हो गए और कहा कि देखो माता अत्यन्त दुखी हैं, गुरुदेव को मौन देखकर पुनः यही वाक्य कहे, इतने में मैं देखती हूँ कि आकाश में एक माता बैठी हैं उनके केश खुले हुए हैं, सफेद वस्त्र हैं अपने हाथों से अपनी छाती पीट रही है और आँखों से अश्रु नहीं बल्कि चिनगारियाँ सी निकल रही हैं। साथ ही उनके मुख से बहुत ही करुणा पूर्ण स्वरों में यही शब्द निकल रहा है कि हाय तुमने वहाँ बड़े दु.ख पाये। माता की ऐसी व्याकुलता देख कर मेरा हृदय भय से कॉप उठा और तत्क्षण मैं भगवान गुरुदेव से कहने लगी कि अब आप यहाँ से जल्दी ही जाओ। तीन बार मैंने यही कहा। अब वे महात्मा दाहिनी ओर से बाँई ओर आये और कहने लगे कि पहले आपके लिये सवारी भेजी जा रही थी किन्तु फिर सवारी न भेज कर इनको भेजा इतना कह कर अपनी चादर उतार डाली। उस चादर के भीतर से एक बहुत ही सुन्दर कन्या निकली उसे देखते ही भगवान गुरुदेव उठ बैठे अपने दिगम्बर शरीर में उस कन्या को दाहिनी जाँघ पर बिठा लिया। उसी क्षण गुरुदेव का और उस कन्या का तेज बढ़ने लगा इतना अधिक तेज बढ़ा कि गुरुदेव का रूप विलीन हो गया, ससार का आकार मिट गया, केवल तेज ही तेज रह गया। यह सब अलौकिक दृश्य देखते देखते मुझे वाह्य चेतना हुई आँख खुली तो अपने को शयनासन मे पाया। मैंने इसका अर्थ गुरुदेव से पूँछा तब गुरुदेव ने बताया कि वह माता लक्ष्मी जी हैं, तथा कन्या आदि शक्ति थी साथ में वह महात्मा के रूप में परमात्मा शिव थे और वह चादर तीन लोक चौदह भुवनों की चादर है।

उस समय मैंने उठकर स्नान किया तत्पश्चात् लेट गई। लेटते ही मुझे फिर वही दृश्य दिखाई देने लगा इस बार उस विश्वव्यापी तेज में गुरुदेव जाते हुए दिखाई दिये जाते जाते उसी तेज में अदृश्य हो गए। जिस समय मुझे लेटे हुए यह दृश्य दीख रहा था उसी समय गुरुदेव भगवान स्थूल शरीर को छोड़ कर चल चुके थे। अचानक पास में रहने वाले एक शिष्य की तेज आवाज सुनाई दी मैं चौंक पड़ी, उठी तो देखा कि गुरुदेव का स्थूल शरीर मात्र शिष्यों के हाथों में रह गया है और वह महान आत्मा सत्य ही परमात्मा के अनन्त तेज में तन्मय हो गई। फिर क्या था मेरी दृष्टि के आगे वह दिव्य तेज तो ओझल हो चुका था, सामने रह गया था केवल सूना सा संसार और उसका अनुभव करने वाला मेरा हृदय, अत्यन्त व्यथित हृदय।

कुछ वर्षों के भीतर ही मैंने सन्त सद्गुरु की महती दया का तथा उनकी विचित्र प्रकार की शक्तियों का जो कुछ अनुभव किया उसका पूरा वर्णन तो हो नहीं सकता। मैंने देख लिया कि सन्त सद्गुरु अपनी शक्ति से शिष्य को इस भूलोक से ही अन्तर्गत का अर्थात लोक लोकान्तरों की शक्तियों का दर्शन करा सकते हैं। मैंने जिस समय जो कुछ देखा वह इन्हींके दिखाने पर ही देखा इन्हीं की इच्छा थी तभी देखा। अनेकों दर्शन ऐसे हैं कि उनका अर्थ कुछ समय बीतने पर मालूम हुआ। जब जो कुछ हास्य विनोद के रूप में कहा वही आगे हो कर रहा। कितने समय पूर्व गुरुदेव ने कहा था कि चने के खेत में शिष्यों ने मेरे शरीर का अग्नि संस्कार किया है, गुरुदेव ने जिस प्रकार बताया था आगे चलकर हम सब ने देखा कि उसी प्रकार विमान सजाया गया उसी चने के खेत में शरीर का अग्नि संस्कार हुआ और उसी स्थान में समाधि मन्दिर बनाया गया। भक्त दुल्ला

सिंह से कहा था कि तुम्हारे गॉव के बाग में मैं तप करूँगा वहीं समाधि बन जायगी। उस समय किसे पता था कि सत्य कह रहे हैं पर अब दिखाई दे रहा है कि उसी जंगल के बाग में गुरुदेव की दूसरी समाधि बनी हुई है। जैसा कि गुरुदेव कहा करते थे कि मैं कहीं न जाऊँगा आत्मा अविनाशी है, अब मुझे प्रतीत हो रहा है कि वे हम सब के निकट ही हैं और अपने अविनाशी रूप से हैं—जिसका परिचय अब भी समय समय पर मिला करता है। अब भी ध्यान करने पर प्रार्थना करने पर तदनुसार उत्तर मिलता है। हम लोग आज भी इनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं। कह नहीं सकती कि मुझे ऐसे महान सन्त के दर्शन का सुयोग किन पुण्यों से सुलभ हुआ। मैंने अपने प्रति सन्त की जिस असीम दया, कृपा एवं करुणा का दर्शन किया, सन्त के हृदय को जितना उदार तथा विशाल मैंने अनुभव किया, सन्त की शक्ति सामर्थ्य अथवा कार्य कुशलता और कष्ट सहिष्णुता जिस रूप में मैंने देखी उसका वर्णन करते हुए भी मैं पूर्ण रूप से कर नहीं सकती। मैं तो इतने ही सौभाग्य पर फूल उठती हूँ कि मुझ अभागिनी को भी ऐसे महान सन्त का दर्शन, सन्त की कृपा का इतना अधिक सुयोग प्राप्त हुआ।

मैंने भी अपने जीवन में सन्त दर्शन किये—कितना सन्तोष होता है इसकी अनुभूति में। किन्तु सन्त सद्गुरु की सेवा का अधिकार तो अपूर्ण ही रहा। अभी तो मुझे सन्त की सेवा का यथोचित ज्ञान भी नहीं हो सका, यह भी सन्त सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। अभी तो मुझे सन्त दर्शन का ही अवसर मिला है, आगे क्या क्या मिलेगा यह तो देने वाले परमदाता सन्त सद्गुरु ही जानते हैं।

!! बोलो सन्त भगवान की जय !!

समर्थ सन्त पापहारी होते हैं

(अनुभवकर्ता साधु रतननिधि जी)

मैंने जहाँ तक सन्त-सद्गुरु की समीपता और इनकी महती दया प्राप्त की वहाँ तक तो अपने जन्म-जन्म के सञ्चित पुण्यों का ही फल मानता हूँ।

सन्त सद्गुरु की शरण में आने का सुअवसर मुझे अपने बाल्यकाल में ही मिल चुका था। प्रथम उपदेश में ही मुझे मन्त्रजप की प्रेरणा मिली। जब मैंने घर छोड़ कर साधु होने की प्रार्थना की तब सन्त ने अस्वीकार किया और उसी समय बता दिया कि 'तुम्हारी शादी होगी, दो लड़के होंगे, बाद में स्त्री मर जायगी तब साधु होना।' यह भी कह दिया कि 'हमारी बात न मान कर साधु बनोगे तो दुःख उठाओगे।'

सन्त के कथनानुसार ही ठीक समय पर मेरा विवाह हुआ दो बच्चे भी पैदा हुए। गृहस्थी के बन्धन से मेरा जीवन घिर गया। एक दिन इतना जी घबराया कि घर छोड़कर भाग निकलने का सकल्प करने लगा उसी दिन सन्त सद्गुरु ने स्वप्न मे दर्शन देकर कहा कि 'आज तुम जो घर से निकल भागने की सोच रहे थे सो ठीक नहीं। घर में पत्नी है, छोटे छोटे बच्चे है, उनको छोड़ना अपराध होगा। घर में ही ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर परमात्मा का भजन करो।

मेरे पेट में आँत उतरने का रोग हो गया मेरा मन बहुत दुखी रहने लगा सन्त सद्गुरु ने इसी दशा में अधिक से अधिक भजन जप करने की आज्ञा दी। मेरा उदर-रोग इतना कष्टप्रद हो गया कि जीवन से निराश होकर सन्त की शरण ली। आश्चर्य

की बात है कि सन्त सद्गुरु के समीप आते ही, उनका दिया प्रसाद पाते ही, विभूति लगाते ही मेरा कष्ट दूर हो गया तभी मैंने अनुभव किया कि सन्त पापहारी होते हैं।

जब मेरा शरीर गृहकार्य के योग्य न रह गया तब सद्गुरु ने अपने समीप ही मुझे रख लिया कुछ समय बाद मुझे मोह ने सताया साथ ही परिवार के लोगों ने घर में रहने को विवश किया, मैं पुनः अपने घर में रह गया तो यह भी आश्चर्य की बात है कि सद्गुरु की समीपता से हटते ही मुझे पुनः पेट के रोग ने दबा लिया और वह तभी दूर हो सका जब गुरुदेव के निकट आकर फिर रहने लगा। और बार बार अनुभव किया कि सन्त पापहारी होते हैं।

शरीर में किसी प्रकार की व्याधि का होना पाप का परिचय है। पाप से ही रोग आते हैं। सन्त ने मेरे रोग जनित दुःख को दूर किया साथ ही जिस शारीरिक व्याधियों के कारण को आधि कहते हैं, (आधिमानसिक रोग है) उसे दूर करने के लिये सन्त सद्गुरु ने मुझे जो उपदेश दिये वह नित्य स्मरणीय हैं।

सन्त के सारगर्भित उपदेश

साधु वेष में मुझे सज्जित करके गुरुदेव ने बताया कि 'यह वेश शिवजी का है पहले से ही रिषि मुनि जटा रखते आये हैं तुम भी जटा रक्खो भभूत लगाये रहो। भभूत लगाने से माया नहीं लगती।

इस ससार में न कोई किसी का लड़का है न कोई बाप है। सब जीव अपने, अपने कर्मवश मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं जैसे कि नदी में हवा के रूप संयोग से लकड़ियाँ कभी एक दूसरे से मिलती हैं, कभी अलग हो जाती हैं।

तुम साधु हो गये, मुँह में राख लपेट ली, तो समझ लो,

दुनिया से मुँह काला कर लिया फिर किसी की गाली की या स्तुति की परवाह न करो।

अपने को मुर्दा के समान मान लो। मुर्दा को कोई गाली दे, मारे तो मुरदा कुछ नहीं बोलता उसी तरह तुम भी हो जाओ। न किसी से दोस्ती करो न दुश्मनी रक्खो।

साधु होने का अभिमान न करो। अपने को ईश्वर का एक बन्दा समझो। अधिक बात भी न करो, कोई बहस करे तो कह दो 'मैं कुछ नहीं जानता। एक राम नाम का जप करता हूँ।'

जो कुछ भी कोई कहे अपने को बचाने के लिये झूठ सच में 'हाँ' 'हूँ' कह दिया करो, कुछ उत्तर न दो। चारपाई पर न सोवो। मामूली मोटा कपड़ा पहिनो। रात को उठकर भजन, जप करो हलकी नींद सोवो। गहरी नींद सोने वालों के यहाँ चोर घुसते हैं। भोर में चार बजे से उठकर जप करो। कोई भी नशा न करो। पान, सुपारी तमाखू भी न खाओ। शरीर देखोगे तो भजन नहीं होगा। एकान्त में सोया करो, किसी के बीच में न सोवो।

जहाँ जब कोई रूखा सूखा भोजन दे वहीं खुशी से उसे खा लो। भोजन करके भजन करो।

'रूखा सूखा खाइके ठंडा पानी पीव।
देख पराई चूपड़ी मत ललचावै जीव।'

अधिक कपड़ा न रक्खो। शौकीनी न करो। दोपहर को कलयुग आजाता है इसलिये दोपहर को भी भजन करो। बस्ती में न रहो। घर के भीतर न रहो।

बस्ती के समीप कुओं के पास ठहरो। वृक्ष की छाया में रहो। बरगद के नीचे, आँवले के नीचे, पीपल के नीचे जप करने का अलग अलग फल होता है।

भक्तों के यहाँ घर में न रहो। भक्तों के यहाँ रहने से भक्त लोग अपने जैसा बना लेते हैं।

भोजन एक बार करो। खूब डटकर भजन करो।

मन का मौन धारण करो। सबसे अलग रहो किसी के संग में न पड़ो।

तुम गाने बजाने में न पड़ो यह सब माया में फँसाने वाली बातें है तुम अलग जाकर भजन करो। घूमने से भजन नहीं होता इसलिये एक जगह में बैठकर भजन करो।

सब जीवों में ईश्वर का वास है किसी जीव से घृणा न करो दुःख न दो।

एक छोटी आत्मा है दूसरी बड़ी आत्मा (परमात्मा) है बीच में माया है। भजन ध्यान से बीच की माया हटती है तभी छोटी आत्मा परमात्मा से मिलती है।

भगवान को ही सब कुछ समझो। सब में भगवान को देखो। सब कुछ भगवान का समझो अपना कुछ नहीं है। भगवान की गति भगवान ही जानता है। उसका अन्त किसी को नहीं मिला।

अपने में किसी जीव को घुसने न दो, किसी से मोह न करो। अपने आसन में किसी को न बिठाओ। भीतर से सब जीवों पर दया रक्खो बाहर से कड़ी नजर रक्खो। दुखी की सेवा करो।

खूब जप करो। जब जप जमा हो जायगा तब योग होगा। योग के बाद विराग, विराग के बाद परे ज्ञान होगा तभी मुक्ति मिलेगी।

हृदय में ध्यान रक्खो या त्रिकुटी में ध्यान करो। एक आत्मा ही सदा पवित्र है, शरीर को न देखो आत्मा को देखो।

अच्छी वस्तु अपने पास न रक्खो, ऐसी वस्तु रक्खो जिसे कोई लेने की इच्छा न करे।

तीरथों में भ्रमण न करो वहाँ पण्डे दिक करते हैं। एक स्थान में जमकर भजन करो तीरथों मे घूमने से कुछ न मिलेगा। रामायण पञ्च ग्रन्थी और ब्रह्म वाणी का पाठ करो। पारबती की भाँति तप करो।

सन्त सद्गुरु की गुप्त कृपा

सन्त सद्गुरु अपने प्रत्यक्ष शरीर के द्वारा शरणागतों पर कृपा दया तो करते ही थे उसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से भी समयानुसार रक्षा तथा आश्वासन आदेश किया करते थे। आज भी हम लोगों पर इनकी कृपा दृष्टि रहा ही करती है।

एक बार स्वप्न में गुरुदेव को दण्डवत किया तब गुरुदेव ने कहा कि इस ठूठ को दण्डवत करने से क्या होगा, आत्मा को पहिचानो उसे दण्डवत करो।

एक दिन मैं प्रार्थना करके सोया तो उसी रात को खूब भजन करने का उपदेश दिया। एक दिन मैं बहुत ही अधीर हो रहा था, अपने को बहुत धिक्कारता रहा, सोचता रहा कि मैं तप तथा योगाभ्यास कुछ करने योग्य नहीं हूँ, उसी रात में गुरुदेव ने दर्शन देकर समझाया कि जप भजन से ही सब कुछ हो सकता है। खूब जप करते रहो।

एक दिन मेरे मन में चारो धाम करने की इच्छा हुई उसी रात को गुरुदेव के दर्शन हुए और तीरथ जाने को मना किया। एक बार पाली से बरई चला गया था उसी रात में स्वप्न में आज्ञा दी कि 'यहाँ क्यों चला आया ? फिर पाली चला जा।'

एक दिन स्वप्न में दर्शन देकर पूँछा कि क्या जीवन चरित्र लिख गया ? मैंने कहा—हाँ लिख गया तब गुरुदेव ने बताया

कि स्थान का नाम तो उसमें दिया ही नही गया। सत्य ही जीवन चरित में स्थान का नाम नहीं था।

एक बार हमें स्वप्न में गुरुदेव ने चार पाँच रूपों द्वारा बदल बदल के भ्रमण कराया और समझाया कि देख तुझे यह चार पाँच जन्म और धारण करने पड़ते परन्तु अब हमने तुझको एक ही जंन्म में इन जन्मों से छुड़ा दिया। अब तुम्हे जन्म न लेना पड़ेगा।

एक बार मैं अपने देश से गुरुदेव के दर्शन करने आया दूर से ही जब स्वामी जी के ठहरने के स्थान को देखा तो मुझे छत के ऊपर गुरुदेव खड़े दिखाई दिये और दूसरा रूप मैंने नीचे तखत पर बैठे देखा। जब रात को वहाँ से चला तो एक रूप आगे आगे चलते देखा और दूसरा रूप बगल में भी दिखाई दिया।

एक बार मैं अस्वस्थ हो गया, मरणासन्न दशा में पहुँच गया था बेहोशी दशा में ही मुझे प्रतीत हुआ कि गुरुदेव आये और हमारे ऊपर हाथ फेरते हुए कहा कि सब ठीक हो जायगा। उसी दिन मेरी पीड़ा ठीक हो गई।

एक बार कुछ अस्वस्थ होने के कारण मैंने दस दिन से स्नान नहीं किया था। शरीर पीला हो रहा था गुरुदेव के दर्शन हुए, मेरी दशा देखकर कहा "जा तालाब में स्नान कर ले बीमारी दूर हो जायगी"। मैंने तालाब में स्नान किया और उसी दिन से स्वस्थ हो गया। इन्हीं सब विशेषताओं को देखकर अपने जीवन में मैंने प्रत्यक्ष समझ लिया कि सन्त पापहारी होते हैं। प्रगट रूप से और गुप्त रूप से दुखियों पर दया करते रहते हैं।

सन्त का अद्भुद् सामर्थ्य

(संदर्शक महन्त श्री केवल कृष्ण जी उदासीन—अटसरांय कुटी)

मुझे गुरुकृपा से ही सन्त-सद्गुरु में अनेकों प्रकार की सामर्थ्य का अनुभव हुआ। मैं अपने अनुभवों के प्रसंगों का स्पष्ट वर्णन तो नहीं कर सकता, फिर भी दो चार घटनाओं द्वारा सन्त के सामर्थ्य का दिग्दर्शन पाठकों के सामने रख रहा हूँ।

न जाने कितने जन्मों के पुण्य-फल से सन्त-सद्गुरु की समीपता सुलभ हो चुकी थी। उनके समीप से हटने की कभी इच्छा न होती थी फिर भी प्रारब्ध वश कभी-कभी उनकी समीपता से शरीर को अलग होना ही पड़ता था।

एक बार गुरुदेव बदरीनारायण की यात्रा को चल पड़े। मैंने भी साथ चलने की प्रार्थना की, किन्तु कारण वश स्वीकार न हुई। मुझे दुखी देख गुरुदेव ने आश्वासन दिया कि "जाओ तुम्हें बदरीनारायण के घर बैठे दर्शन हो जायँगे।"

एक दिन मैं बैठा हुआ मध्याह्न में जप कर रहा था; नेत्र बन्द थे, ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने यह कहते हुए—ले बदरीनाथ के दर्शन कर—मेरे जोर से तमाचा पीठ में मारा उसी समय मेरे सामने से किशोर अवस्था में एक दिव्य मूर्ति की झलक दिखाई देकर लुप्त हो गई और मैंने झिझक कर आँख खोल दी। उसी क्षण स्मरण हो आया—यह सन्त का सामर्थ्य है।

एक बार गुरुदेव ने मुझे किसी कार्य से करविगवाँ भेजा। गरमी के दिन थे दोपहर हो रही थी, मार्ग में छोटा सा जगल मिला उस जंगल में कहीं भी रीछ; शेर; चीते नहीं रहते परन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि एक ओर रीछ खड़ा हुआ है। मैं भय से

पहले तो घबरा गया कुछ दूर भाग पड़ा परन्तु अपनी इस प्रकार की भयातुरता पर लज्जा आई तब खड़ा हो गया। पुनः वही रीछ दिखाई दिया, मेरी आँख झपकी फिर खुली तो देखा कि वहाँ कहीं भी रीछ भालू है ही नहीं। लौटकर गुरुदेव से अपना सब हाल सुनाया 'तब गुरुदेव ने कहा कि रीछ के रूप में एक सिद्ध फकीर था, तुम्हे कुछ देने आया था तुम्हारी परीक्षा थी। यदि तुम भगवान का अथवा गुरु का ही रूप मान कर उसे प्रणाम करते तो वह तुम्हें कुछ देता परन्तु भय के कारण लाभ के अवसर को खो दिया। गुरुदेव के यह वचन सुनकर मुझे उन्हीं की लीला समझ पड़ी और हृदय ने स्वीकार किया कि यह भी सन्त का सामर्थ्य है।

एक बार गुरुदेव के साथ पैदल ही हम चल रहे थे साथ में एक या दो मूर्तियाँ और भी थीं, गुरुदेव ने चलने का मार्ग छोड़ दिया था कटे हुए खेतों के मध्य से चल रहे थे जिनमें खूटियाँ थीं। मैंने मन ही मन कहा कि जाने क्यों स्वामी जी रास्ता छोड़ कर कुरास्ता चल रहे हैं, कहीं एक भी खूँटी पैर में चुभ जाय तो कितना कष्ट हो सकता है। गुरुदेव अचानक खड़े होकर हमसे पूछते हैं "बताओ कौन मार्ग चलें, हम तो आधे पागल हैं, तुम चार अक्षर पढ़े लिखे हो, तुम्हीं बताओ कौन सा रास्ता ठीक है ?" मैं तो स्वामी जी की यह बात सुनकर अवाक् रह गया और अनुभव किया कि 'यह भी सन्त का सामर्थ्य है कि वह बिना बोले ही मन की बात जान लेते हैं।'

'स्वामी जी रास्ता छोड़ कर क्यों चल रहे थे—इसका कारण यही था कि जिस ग्राम से चले थे उस ग्राम में एक ब्राह्मण का लड़का बीमार था। स्वामी जी को लड़के के माता पिता रोकना चाहते थे—उन्हें विश्वास था कि स्वामी जी रहेंगे तो लड़का

अच्छा हो जायगा, परन्तु स्वामी जी ने लड़के को देखकर मुझसे चुपके बता दिया कि 'इस लड़के की मृत्यु का परवाना निकल चुका है परन्तु मैंने एक दिनके लिये रोक लिया है, इसीलिये यह लड़का अभी जी रहा है परन्तु रात में यह न रहेगा। रात होते ही हम लोगों को चल देना चाहिए।' इसी कारण से गुरुदेव वहाँ से किसी प्रकार चल पड़े। हम लोगों के चले आने के बाद ही वह लड़का न रहा। जब हमने सुना तब समझ लिया कि यह भी सन्त का सामर्थ्य है। सन्त जीवों की मृत्यु को प्रथम ही देख लेते हैं।

एक भक्त ठा० श्रीपाल सिंह के पुत्र के लिये भी महीनो पहले बता दिया था कि अब यह जीवात्मा इस शरीर में न रहेगा, वैसा ही हुआ। जब वह जीव चला गया तब पुत्र शोक से दुखी पिता को स्वामी जी ने पुनः एक पुत्र होने का आश्वासन दिया और प्रथम से ही उस पुत्र का कल्लू नाम रख दिया। सम्भवतः साल या दो साल पश्चात् पुत्र जन्म हुआ। यह देख कर भी मुझे कहना पड़ा, यह सन्त का सामर्थ्य है।

एक बार मैंने सन्त-सद्गुरु से पूछा कि कामवासना को पूर्ण रूपेण कैसे नष्ट किया जा सकता है। स्वामी जी ने बताया कि 'काम को वही जीत सकता है जिसका योग मार्ग से तीसरा नेत्र खुला हो। आज ऐसे योगी यहाँ नहीं दिखाई देते। तीसरे नेत्र के खोलने का मार्ग मैं जानता हूँ।'[*] स्वामी जी के

[*] ये परमहंस जी कामजित ऊर्ध्वरेता थे। एक बार भाम साद मे विनोद वश एक व्यक्ति ने इनकी मूत्रेन्द्रिय को स्पर्श किया, स्वामी जी उसी क्षण मूल बन्ध द्वारा अपनी इन्द्रिय को इतना ऊपर खींच लेगए कि उस स्थान मे अंगुली जाने का इन्द्रिय के स्थान में मार्ग बन गया।

—'सम्पादक'

ऐसा कहने पर मैं तो मौन ही हो गया। समझ गया कि तीसरा नेत्र या तो योगेश्वर शिव जी का खुला था, या फिर किसी योगी का ही खुल सकता है। उसी समय मै जान सका कि यह भी हमारे श्रद्धेय सन्त का सामर्थ्य है।

मैंने सुना था कि गुरुदेव एक बार एक द्वेपी साधु के दिये हुए जहर को पचा गए। एक बार स्वय सींगिया विष खाकर मृत्यु से लड कर जीत गए लेकिन एक बार यह भी देख लिया कि जिसे हम विप समझते थे उस फल को तोड़ कर दो फल हमें खिला दिये मैं भी सन्त पर विश्वास रखता था वे विप फल खाकर पानी पीकर अपनी क्षुधा मिटाई, परन्तु मुझे सन्त का दिया हुआ विष फल प्राणनाशक होने के स्थान में प्राण-पोपक बन गया। तब भी यही अनुभव हुआ कि यह सन्त का सामर्थ्य है।

मैंने सन्त के सामर्थ्य का और न जाने कितने प्रसङ्गों मे अनुभव किया है, परन्तु उनको यहाँ पर रखने के लिये स्थान नहीं है अतः इतना ही कह कर सन्त के अलौकिक सामर्थ्य को, बहुमुखी सामर्थ्य को नमस्कार कर रहा हूँ। *

समर्थ सन्त भगवान की जय

* वैसे तो परम हंस जी के सामर्थ्य का अनुभव उनके सभी भक्तों ने किया है, किन्तु उनमें से श्री सूर्यप्रसाद, श्री किदारनाथ, बाबू रामनारायन, श्री महेन्द्रपाल सिंह आदि भक्तों को सन्त के सामर्थ्य का बहुत अधिक दर्शन हुआ है। यह सब भक्त चातक की भाँति गुरुदेव की ही उपासना करते आरहे हैं, इस पुस्तक में इन भक्तों के लेख नहीं आसके।

—सम्पादक

सन्त की महत्ता

(लेखक—विष्णु स्वरूप वर्मा)

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रूपिणौ'

इस कराल कलिकाल के विचारोदण्ड स्वातन्त्र्य युग में भी जो महापुरुष अपनी अच्युत मनोवृत्ति एवं अचल समता द्वारा परमार्थ-पथ का सच्चा पथिक बनकर जगज्जीवों का उद्धार करता हुआ अपनी इयत्ता को सर्वदा गुप्त रखते हुये संसार सागर को तैर कर पार करके अपने सहज स्वरूप में समाविष्ट होता है वही सच्चा सन्त है और वही जीवन्मुक्त है।

'सन्त दर्शन' के प्रतिपाद्य परमहंस सन्त श्री नागा निरंकारी जी इसी कोटि के महापुरुष थे। उनकी अन्तर्कला का महत्व आज तक किसी ने भी नहीं जान पाया। सन्तों का चरित्र ही विलक्षण होता है। जगत-नियन्ता की विश्व व्याप्त कृति को कोई भी नहीं जान सकता कि कब और कैसे हुई। सर्वार्थ संग्रह कर लेने पर भी उसके उपयोग का विधान बिना जाने हुए श्रम व्यर्थ होता है। इस समस्या का सुलझाने वाला एक मात्र गुरु नारायण होता है।

सतत स्मरणीय श्री नागा निरंकारी जी ने दिव्यांग में पारब्रह्म की मानवलीला प्रत्यक्ष परिलक्षित होती थी। इसको हम अपने अनुभव द्वारा निर्भ्रान्त कह सकते हैं। और हमारी अनुभूति का निष्कर्ष भी यही है कि वह देवावतार थे। ईश्वर की अनुभूति अपने ही आत्मा से होती है। जो भावना सहज रूप से अन्त. करण में उद्भूत होती है—अस्था कहलाती है 'यो यच्छ्रद्धा एव स.।'

अपिच्—जो महापुरुष आजीवन मन वाणी और कर्म से अपने आपको गुप्त रखने की भावना में ही मस्त रहा उसका रहस्योद्‌घाटन करने में कौन समर्थ हो सकता है। जिन्होंने उनकी प्रत्यक्षता में उनको नहीं जाना वे अब हमारे कहने से ही कैसे जान सकते हैं। पुनरपि इस कोटि के ग्रन्थ किसी को प्रसन्न करने की दृष्टि से नहीं लिखे जाने चाहिए बल्कि विश्व मात्र की हितैषिता का ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

'सन्तदर्शन' वास्तव में जीवन चरित्र नहीं अपितु नर नारायण की महान मनोवृत्ति का यथाकथंचित दिग्दर्शन मात्र है। परमहंस सन्त श्री नागा निरकारी जी की पूर्व स्मृति का पुण्य प्रतीक है। गुरु भक्तजनों से आग्रह पूर्वक निवेदन है कि इसे केवल पठन-पाठन के मनोरंजन का उपकरण ही न समझें वरञ्च-मनन एवं निदिध्यासन का अमर मंत्र मान करके परम पद-पथ निर्देश का अमोघ अवलम्ब जान कर जीवन को सफल बनावें। अनुभव विषय का महत्व रसना नहीं कह सकती है क्योंकि अनुभव गम्य करना मन का काम है। रसना में आस्वादन और वादन दोनो गुण हैं। परन्तु—

'गुरु प्रसाद खाती जो रसना स्वाद नहीं कह सकै यथार्थ।
त्योंही व्याप्त स्वात्म गुण गौरव लखि नहिं सकता स्वयं पदार्थ॥'

अर्थात् भक्त ही भगवान का स्वरूप है। भक्त में भगवान की अकथनीय महत्ता व्याप्त है जिसे भक्त स्वयं नहीं जानता। संयोगवश जब वह भगवान के सन्मुख आता है तभी अपने सहज स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। सद्‌गुरु रूपी समर्थ मुकुर ही इस रहस्य का उद्‌घाटन करने वाला होता है जो वास्तव में भगवान का ही पर्यायवाची नाम है। नाम और रूप का अभिन्न संसर्ग सनातन से चला आता है। नाम नामी से पृथक

नहीं है, तथा रूप नाम का बोध्य प्रतीक है। रूप जीवनावधि का साँचा है और क्षण भंगुर है परन्तु नाम काल कर्म से परे अनादि एवं अमर मन्त्र है। मनोवृत्ति ही नामी की गुण-गुम्फित चिर-संचित निधि है, जिसमें नर से नारायण बना देने की सत्ता अनुस्यूत है। सृष्टि के विकास केन्द्र से प्रलय परिधि पर्यन्त कोई भी पदार्थ नाम और रूप की विभूति से रहित नहीं है। नादमय अखिल जगत नाम और रूप की महत्ता से ओत प्रोत है। नाम स्मरण में स्वरूप दर्शन की उत्कट अभिलाषा अन्तर्निहित होती है।

परमात्मा अरूप और अनामी होते हुए भी 'एकोऽहंबहुस्याम' सूत्र को सार्थक करते हुए गुरु रूप में अवतीर्ण होते हैं।

अद्वैत नाम के परमपद को स्वरूप दर्शन का प्रबल आग्रह है। इस आग्रह के आधीन होकर यह परमपद अपनी माया से ब्रह्मान्ड-देह इन्द्रिय तथा विषयों में विवर्तित हो गया है। यह देह मे देह विकार नाम के स्वरूप दर्शन के विघ्नों को उत्पन्न कर लेता है। काल्पनिक विघ्नों को उत्पन्न कर लेना ही इसकी माया का स्वरूप है। ये सब विघ्न विघ्नातीत स्वरूप को देखने के लिये बने है। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान ब्रह्म और माया दोनों अभिन्न हैं। इस अभेदात्मक स्थिति के बीच में माया ने एक विघ्न नाम का काल्पनिक परदा रच लिया है। साथ ही ज्ञान रूपी अस्त्र से उसे हटाकर अपने ही अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन-स्पर्शन—सम्भोग और अन्त में उसी में तल्लीन होने की विचित्र लीला अनन्त शरीरों को द्वार बना कर अनन्त मार्गों से की जा रही है। रूप की सृष्टि रूप का आकर्षण अस्वीकार करके रूपानासक्ति के रूप में आत्मदर्शन के लिए हुई है। यही रस-गंध-स्पर्श-शब्द आदि की भी गति विचार

शील मन के पास आकर हो जाती है। ये सब रसनासक्ति-गंधानासक्ति-स्पर्शानासक्ति और शब्दानासक्ति के रूप में आत्म-दर्शन के उपयोग में आते हैं। काम निष्काम होने के लिए बना है। क्रोध अक्रोध नाम का बल दिखाने का अवसर देकर मुक्ति का आनन्द दे जाता है। इसी प्रकार लोभ-मोह मद-मत्सर-भय भी निर्लोभ-निर्मोह-निर्मद-निर्मत्सर और निर्भय होने के काम में आते है। यही विषयों का ज्ञानाग्नि दाह कहाता है। यही धीरज आ जाना ही विषयों का अस्तित्व हीन हो जाना या भस्म हो जाना है विषयो से अस्तित्व छीन लेने की कला को जो जानता है—वही सच्चा सन्त है। सन्तवेष ही भगवत्स्वरूप का यथार्थ बोधक है। इसी हेतु भगवान ने अवतार-वाद की प्रणाली निकाली है। सन्त स्वरूप भगवान को परम प्यारा होता है।

सन्तों को अपना कुछ काम नहीं होता। क्योंकि भगवान ही विश्वरूप में अवतीर्ण है इसीलिए विश्वमात्र की सेवा का सौभाग्य ही सन्तों का परम तृप्तिकर उद्देश्य होता है।

सन्त सदैव ससार समाज के लोगों के अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के काम में लगे रहते हैं। यही धारणा श्री स्वामी जी मे प्रत्यक्ष देखकर हम धन्य हुये हैं। सब लोगों के सावधान होकर सुनने की सबसे बड़ी विशेषता उनके चरित्र में यह थी कि वे आत्मा से भिन्न ईश्वर की उपासना के बड़े उपेक्षु थे। अपने स्वरूप भूत ईश्वर की उपासना ही दैवी सम्पत्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। ईश्वर भावनामयी सत्ता है—वह हृदय निहित सत्ता है। ईश्वर भक्त को शब्द ब्रह्म का अतिवर्त्तन कर ही चुका होना चाहिये। जिसके मन में चौबीसों घटे ईश्वर को हाजिर रहना पड़ता है—वही ईश्वर भक्त है। पाप या निर्बलता न आने देना ही ईश्वर का हृदय मन्दिर में वास है। विशुद्ध मानस ही

ईश्वर का बैकुण्ठ है। जिसके मन में कोई भी कोठरी विषय के लिए खाली नहीं रह गई है वही सच्चा भक्त है। अपने लिए किसी से कुछ मांगना या किसी प्रकार की सुविधा चाहना ईश्वर भक्ति नहीं है प्रत्युत यह विषयानुराग है। ईश्वर से भी अपने लिए सुखार्थना करना ईश्वरभक्ति नहीं है। यह तो अपनी आत्मा को धोखा देना है जब कि वह स्वयं ईश्वर स्वरूप है तब उसे ईश्वर हुए बिना कदापि चैन नहीं मिल सकता। स्वरूप दर्शनार्थी होकर ही ईश्वर मानव देहावतीर्ण हुआ है।

एकत्व मे अनेकता की कल्पना कर लेना ही ईश्वर की माया है। उस अनेकता में से फिर एकत्व ढूँढ निकालना ही उनका योग है। अनेकत्व को तिरस्कृत करने के काम में लाकर एकत्व का दर्शन—संभोग और तल्लीनता की अवस्था का अधिकृत कर लेना ही ईश्वर भक्ति या जन्मसिद्धि है। यही बात श्री स्वामी जी ने हमको समझायी थी और साथ ही साथ यह भी कहा था कि "इससे अधिक हमारे पास और कुछ नहीं है। यही हमारी पहली बात है और यही हमारी पिछली बात है।"

विचार को सदैव जगाए रखने पर ही उनका सबसे अधिक बल था। मनुष्य के स्वरूप भूत माहात्म्य पर उनका अटल विश्वास था। आत्म-बोध, आत्म-विश्वास और निसदिग्ध जीवन यही उनकी दृष्टि में उपादेय जीवन था। ससार से अस्तित्व छीन लेने वाली उनकी शैवी मुद्रा आज भी हमारी आँखों के सामने घूम रही है। उनकी मूर्ति प्रज्वलन्ती दीप शिखा की भाँति अखण्ड तेज से सदैव चमकती रहती थी। शिष्यों को अपने देह मोह मे न फंसने देना उनके चरित्र की परम विशेषता थी। वास्तविक बात यह है कि सन्त की मनोदशा ही भक्तों के सत्सङ्ग की एक मात्र सामग्री होती है। सन्तों की इसी अलौकिक दशा

से अनुराग होना चाहिये। सबको नारायण बना देने वाली जिस भावना को लेकर सन्त अपने देह का सदुपयोग करने के लिये ससार के पदार्थों का उपयोग करता है, वह अपने भौतिक देह को ईंधन बनाकर जिस आत्म-ज्ञानमयी दीप शिखा को निरन्तर जलाता रहता है, और विषयान्धकार का हटाता रहता है, बस उसी ज्ञान दीप शिखा से ही शिष्यों को अनुराग मानना चाहिये। स्वरूप दर्शनार्थी आत्म तत्व गुरु-शिष्य तथा ईश्वर नाम की त्रिमूर्त्ति धारण करके फिर इस वैचित्र्य को मिटाकर एकत्व मे आ जाने के लिये परम उत्साही रहता है। इस अभेदोत्सव का सयोजक सद्गुरु होता है। शिष्य को अपने समान कर देना ही सद्गुरु का काम है। गुरु की आवश्यकता को हटा देना ही सद्गुरु का काम है। गुरु जिस आत्मबल से स्वय बलवान है, वही शक्ति शिष्य को दे देना ही सद्गुरु का काम है। अर्थात जो हम हैं वही तुम हो यह कह देना सद्गुरु का काम है। रोगी रहना और चिकित्सा कराते रहना वाञ्छनीय स्थित नहीं है। वैद्य के पास जाते रहना त्याज्य स्थिति है। वैद्य की आवश्यकता को दूर कर देना ही सद्वैद्य का काम है। सन्त अपने जीवन से यही सिखाता है कि गुरु को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वह यह भेद दे देता है कि तुम्हारे अन्दर जो परमात्मा नाम का अप्रभावित निर्विकार मानस है वही ससार भर का गुरु है। यही गुरुओं का गुरु है। इस विश्व गुरु से शिष्य समझे हुए का सबध जोड़ देना और साथ ही अपने आपको गुरु पन के अभिमान से बचा लेना ही सद्गुरु का काम है।

सच्छिष्य और सद्गुरु दोनों ही दोनों के भगवान है। दोनों को अहभाव रहित होकर एक दूसरे के साथ कर्तव्य के नाते भगवत्समर्पित होकर आत्म कल्याण को प्रगट कर लेना चाहिये।

दोनों का पारस्परिक देह मोह कठोरता पूर्वक तोड़ दिया जाना चाहिये। शिष्य के सबध में इस प्रकार का कठोर निर्मल स्वभाव पूज्य श्री स्वामी जी मे था। यह भी उनके दिव्य जीवन की एक विशेषता थी।

यथार्थ में अव्यक्त विषय अनुभवातीत होता है तथापि श्रद्धा पूर्वक यथा कथचित कहना मन एव वाणी को सार्थक करना है। वस्तुत: सन्त जगद्गुरु होता है। सन्त के पास जो कोई जाता है उसे ही यह भ्रम हो जाता है कि ये सन्त मुझे ही सबसे अधिक प्यार करते हैं। ऐसी ही समझ हमारे मन मे भी उनके प्रति थी।

जब तक वह दिव्य शरीर जीवित रहा तब तक अनेक ज्ञान पिपासुवों को ज्ञान वारि पिलाने के काम में अहर्निश लगा ही रहा। उस देह मे होने वाली ईश्वरीय लीला अब यद्यपि सवरण कर ली गई है परन्तु उसकी वह लीला शक्ति अनन्त काल मुक्त देहों के रूप में प्रकट होकर ब्रह्म जल की प्याऊ बनने के काम मे अब भी लगी हुई है—लगी रहेगी, यह—अच्युतास्था ही हमे परम सन्तोष की अवस्था प्रदान करती है।

भक्त वत्सल भगवान की लीला परम विचित्र है। बिना उनकी कृपा कटाक्ष के उनका रहस्य जानना सर्वदा असंभव है। ससार का निस्तार करने वह स्वय ही सन्तवेष धारण करके जगत मे अवतीर्ण होते हैं। सन्तवेष ही भगवान का परम प्रिय शृगार है। परमहंस सन्त परम ब्रह्म के साकार स्वरूप 'दर्शनार्थी होकर ही भगवद्ब्रह्म मानव देहावतीर्ण हुआ है—अस्तु भगवदाश्रित सत सदा सर्वथा सर्वभावेन वन्दनीय है।

वत्स देश के आधुनिक प्रान्त फतेहपुर में रियासत असोथर (अश्वत्थामा पुरी) खीचर वशी क्षत्रियों की राजधानी है। पूर्व-काल में श्री सम्मान्य भगवत राय यहाँ पर प्रतापी राजा हो गये

है। आज भी उनके विशाल दुर्ग के ध्वसांवशेष उनकी कीर्त्ति के स्मारक स्वरूप यत्र-तत्र खड़े हैं। यह नगरी अब भी अबादान है। वस्ती मे २५०-३०० गज नैऋत्य कोण पर श्री अमर मूर्त्ति अश्वत्थामा जी का पुरातन मठ तथा अन्यान्य अज्ञात स्थलो के खण्डहर एव पाण्डव—प्रागण आदि वर्त्तमान युग में भी अतीत की याद दिला रहे है। इसी प्रसिद्ध मठ से उत्तर यत्किंचित्दूर एक रमणीय भू-कन्दरा बनी हुई है जिसका द्वार उत्तराभिमुख है। कन्दरा की लम्बाई पूर्व पश्चिम ७।। गज और चौड़ाई ३।। गज है। कन्दरा का निर्माण प्राचीन ढग पर हुआ है। नीचे जाने के लिये जीना का मार्ग है और दूसरा एक गुप्त अति सकीर्ण गर्भ कन्दरा का द्वार है। इस गर्भ कन्दरा मे यह विचित्रता थी कि शीतकाल मे उष्ण तथा ग्रीष्म मे कुछ ठण्डी रहती थी। इस अपूर्व तपः स्थली के आस पास कभी बीहड़ प्रान्तर था परन्तु अब तो चारों ओर उर्वर क्षेत्र लहलहाते है।

वास्तव मे यह अपूर्व स्थल भजन के ही योग्य था। यद्यपि अब बिल्कुल ही जनशून्य है, तथापि युगान्तर के वैभव की रमणीयता का आभास अब भी बरसा रहा है। प्रातः स्मरणीय अश्वत्थामा जी का मठ भी निपट निर्जन है परन्तु दृश्य मे अद्भुत आकर्षण है जो दर्शकों को विमुग्ध कर देता है। कन्दरा अत्यन्त प्राचीन है। इस कन्दरा में एक रमते राम सन्त आकर रम गये थे, वर्षों इसमें निवास कर उग्र तपश्चर्या और अपूर्व योग साधन किया था। सदियाँ बीत गई किन्तु किसी को कुछ पता नहीं ज्ञात हुआ। कालान्तर में ईश्वरेच्छा से किसी किसी भाग्यवान को इन भगवत्स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ अर्थात अब से १००-१२५ वर्ष पूर्व पुरुषों को ही दर्शन परिचय प्राप्त हुआ था। उस काल ये अखण्ड मौनी थे। प्राकृतिक मूक तो असंयत नाद तथा

इंगित विशेष करते हैं परन्तु आप इंगित मात्र भी नहीं करते थे। दृष्टि तक नहीं मिलाते थे। परम दिगम्बर थे, महामौनी थे। लघु बालकों की भाँति अति सरल एवं अकृत्रिम ढङ्ग से रहा करते थे। निरंकुश गति से यत्र-तत्र विचरण करते थे। कभी कभी वृक्षों पर चढ़कर रात दिन व्यतीत कर देते थे। कभी धूलि में घुसकर मस्त लेटे रहते थे। धराधूलि ही उनकी शैय्या और उपर्वहण थी। धूलि ही संरक्षिणी और धूलि ही सर्वस्व थी। उस समय की भोजन आदि की व्यवस्था का इतिहास अब भगवान भी नहीं बता सकते। उनके रूप दर्शन के अतिरिक्त उनका जन्म स्थान-कुल आयु और नाम सर्वथा अज्ञेय है। अब से शतश. वर्ष पूर्व के लोग उन्हें सदैव एक रूप-एक वृत्ति में रहते हुए देखते चले आये हैं। पता नहीं उस समय वह किसका आराधन था कौन सा साधन करते थे। आपकी आकृति में विशेष आकर्षण था। आकर्षण में उत्तरोत्तर उत्कर्ष का अच्युत परिलक्षण परिदर्शित होता था। सन्तो को जीवन चर्या हरेच्छा का सहज और सुन्दर स्वरूप है। चर्म चक्षुओं की तीक्ष्ण शक्ति बहिर्दर्शी होती है। अपने को नहीं देख सकती परन्तु ज्ञान चक्षुवो के द्वारा अपना सहज स्वरूप अनुभूत होता है।

परम्परानुसार संसार उन्हे नागा बाबा असोथर के नाम से पुकारता आया है। अस्तु यही परम पवित्र नाम हम भी उच्चारण करेंगे। यही हमारे निर्वाण निदर्शन के परमाराध्य प्रतिपाद्य महादेव है। आपकी अभय औढर मुद्रा सदैव अनुष्णासीत होती हुई भी परमोदार वृत्ति की परिचायक थी। लोकोपकारिता ही आपकी स्वाभाविक सत्कृति थी।

अव्यक्त अवस्था की व्यवस्था ही देवावतार की सफल कला है। अविज्ञेय विषय मानस का रहस्यात्मक वर्णन ही अमर

यद्यपि यह भक्त महाशय अब स्वर्गीय हो चुके है तथापि गुरुदेव की महती कृपा से धन-जन परिपूर्ण आपका परिवार अब भी उपस्थित है ।

आदर्श जीवन

प्रकृति का नियम है—शनैःशनैः पृथ्वी का रज-परमाणु संगठित होकर महाविशाल भूधर बन जाता है और उसमे असाधारण सहन शक्ति समाविष्ट हो जाती है। युगान्तर में वही अमूल्य रत्नों एव अलभ्य औषधियो का अक्षुण्य अभिधान बनकर विश्व मण्डल का हित साधन करने में समर्थ होता है।

श्री स्वामी जी का हृदय महान था, उसमे वात्सल्य रस का अजस्र उद्रेक सदैव प्रस्रवित रहता था। मुखारविन्द में अम्लान ओजस का अदम्य निरवार व्याप्त था। उनके ललित लोचनों में शील सजीव रूप मे मूर्तिमान था। उनका सुगठित अंग, भव्य आकृति, मजु रहन सहन एवं मधुर भाषण तथा अथक उत्साह उनके उच्च कुल होने एवं देवत्व भाव के परिचायक थे। वह सर्वदा प्रसन्न मुख ही रहा करते थे। मानस मदिर में परमब्रह्म की परिचर्य्या में निरन्तर तल्लीन रहना ही उनकी प्रमुख प्रकृति थी।

संसार की निस्सारता का इन्हे सम्यक ज्ञान था अतः मोह नष्ट हो गया था।

हृदय निरीह था—कोई भौतिक अरमान था ही नहीं, अस्तु लोभ भी पलायित हो चुका था।

सर्वत्र प्रेम का ही प्रसारण दृगोचर होता था, जिससे क्रोध भी चकनाचूर हो गया था।

पूर्ण निष्कामना से काम भी बेकार हो गया था।

सर्व खल्विद ब्रह्म-ज्ञान के प्रकाश से द्वैत का भान था ही नहीं तब मद कैसा ? और प्रतिद्वन्द्विता न थी तब मत्सर ही कहाँ रहा ?

अर्थात वह सर्वाङ्ग वीतरागी, परम तितेक्षु, अच्युत, यतीन्द्रिय और अखंड योगी थे। मानस जब पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है तो उसमे अनिवार्य दैवीशक्ति संचित हो जाती है। उनकी तपश्चर्या पूर्ण पराकाष्ठा को पहुंच गई थी। योग, ज्ञान, वैराग्य और आनन्द के तो वे साक्षात आशुतोष स्वरूप ही थे। भक्तो के लिए कल्याण कल्पद्रुम थे। कोई भी याचक उनके दरबार से विमुख होकर नहीं लौटा। यही तो उनके सर्व समर्थ होने का और उनकी परमोदारता का सारगर्भित लक्षण है। दीन दुखियो के तो वे प्रत्यक्ष माता पिता थे, और जगत पारावार के अवघट-घाट से पार लगाने वाले स्वयं सिद्ध सद्गुरु भगवान थे।

श्री स्वामी जी का जीवन अब उस अवस्था को अतिक्रम कर चुका था अब वे मौन व्रत पूर्ण कर चुके थे और अपने हाथो भोजन पान करने लगे थे। बालको का सहवास अन्त तक उन्हे भगवान के सामीप्य से भी प्यारा रहा। बाल क्रीड़ा में उन्हे अनिवर्च ब्रह्मानन्द की सी अनुभूति होती थी। ग्रामीण बालको की टोली से परिवेष्टित होकर जब आप बस्तियो मे परिभ्रमण करते थे तो साक्षात वृजविहारी गोपाल कृष्ण के समान ही नयनानन्द दायक होते थे।

जिस समय आप सर्वांग मे विमल विभूति रमा कर शान्त मुद्रा से ध्यानावास्थित होते थे तब कैलासविहारी सदाशिव की मूर्ति का साक्षात्कार होने लगता था।

संयोग वश स्वेच्छा से दर्शक मंडली में जब आप अलौकिक ज्ञान का उपदेश करते थे तो निर्भ्रान्त रूप से विरंचि भगवान् की झाँकी परिदर्शित होती थी। असहाय अनाथ और अबोध जनता के तो आप देवोपम नागा बाबा थे ही।

हाय: ! क्या वह ईश्वरीय सुदर्शन अब फिर इन चर्म

चक्षुवों को कृतार्थ करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में तो ब्रह्मान्ड नायक महाविराट भी मूक हो जाते हैं।

परमहंस गुरु भगवान की यह अनवद्य कला तो संसार को परिदर्शित होती थी परन्तु उनकी अन्तरंग अनिवार्य कला को ईश्वर के अतिरिक्त कौन जान सकता है।

उग्र तपश्चर्या

जिस प्रकार पर्वत में शीत घाम वर्षा वायु और वज्रप्रहार सहने की क्षमता होती है, उसी प्रकार श्री स्वामी जी में भी अप्रमेय सहन शक्ति थी। आतप काल में आप धधकती धूनी तापा करते थे और शीत काल मे रात्रि को जल शयन करते थे। आत्मश्लाघा एव आत्मगरिमा की भूमि में कभी पदार्पण नहीं किया। सर्वानुस्यूत सत्ता के द्रष्टा ब्रह्मानन्द के अविकल पुण्य पात्र एव अच्युत योग के पारगत पण्डित तथा निर्वाण पथ के निर्भ्रान्त प्रदर्शक और परेतत्त्व के पूर्णज्ञानी परमहस सद्गुरु भगवान थे। साम्प्रदायिक,प्रपंचों से आप ,सर्वदा न्यारे रहते थे किसी भी मत मतान्तर के विरोधी नहीं थे। प्रत्येक मतानुयायी दर्शक गण आते थे और सत्संग में वास्तविक समाधान प्राप्त करके हर्ष पूर्वक सन्तुष्ट हो जाते थे।

श्री राम तत्वज्ञ चूडामणि परम पूज्य पाद श्री स्वामी जी ने इस अपार संसार से पार होने के लिए नाम जप ही परम श्रेयस्कर बताया है। सब साधनों में आप जप को प्रमुख मानते थे, सत्य को तपस्या से श्रेष्ठ मानते थे और प्रेम को सर्वोपरि मानते थे। आप कहा करते थे "जप का संबंध आत्मा से है। जपानुराग आन्तरिक प्रेरणा से होता है और आत्मा की प्रेरणा तभी होती है जब मन कामतृष्णा से मुक्त हो जाये। मन तृष्णा

रहित तभी होता है जब उसे पूर्णतः तृप्ति हो जाये और मन तृप्त तभी होता है जब कोई अरमान बाकी न रह जाये।"

अथच "सतत सद्धर्माचरण से चित्त की शुद्धि होती है। विशुद्ध मानस में ही सद्बुद्धि का विकास होता है और उसी विकास में ब्रह्म का अनुभव प्रतिबोधित होता है।"

उग्र तपश्चर्या द्वारा आपने परन्तप पद प्राप्त किया था। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि अष्टांग योग के दुरूह साधन तो आपकी स्वाभाविक परिचर्या में प्रविष्ट हो गए थे। अब आप निरन्तर अखण्ड ध्यान समाधि में तल्लीन रहा करते थे। अहर्निश एकासन पर अविचल वृत्ति से बैठे रहते थे और उनके अभिराम नयनों के कोयों से अविराम प्रेमाश्रु प्रवाह प्रवाहित होता रहता था।

ध्यान में लोक लोकान्तर का परिभ्रमण किया करते थे और देव लोक की विशेषतायें मौज में आकर दर्शक जनों से बतलाया करते थे। शील तो आपकी नस नस मे व्याप्त था। लौकिक गीत भजन का आपके निकट कोई मूल्य न था। आप परे तत्व के ज्ञान को परमोत्तम भजन मानते थे। आपका आदेश था—

"जप में मन लगे या नहीं परन्तु जप न छोड़ना चाहिये—जप करते करते मन स्वयं आकृष्ट हो जायेगा। अन्य आवश्यक कार्यों की भाँति भगवान की पूजा भी स्वाभाविक होनी चाहिये। मनुष्य को जैसे क्षुधा पिपासा आदि उत्पीड़ित करती है ऐसे ही भगवान के प्रति जब भावुकता विह्वल कर दे—वही आत्मा की सच्छिक्षा है—वही सच्ची भक्ति है, वही सच्ची तपश्चर्या है।"

कभी कभी योग मार्ग के अन्तर्रहस्य आप शिष्य समुदाय से बतलाया करते थे, परन्तु नयनांध के लिये जैसे संसार की भाक्ति निरर्थक है वैसे ही हम लोगों के लिये उनका अगोचर संकेत भी

मन बुद्धि और वाणी से परे था।

एकासन पर स्थित आप देव लोकों की सैर कर आते थे, देश देशांतर की समस्त घटित अघटित घटनाएँ विश्वस्त रूप से बतलाया करते थे। तीनों काल और तीनों लोकों का आपको सम्पूर्ण ज्ञान था।

श्री स्वामी जी के अन्तरात्मा में युगान्तर का सञ्चित भगवत्र प्रेम, युग सञ्चालन के साथ साथ प्रोद्भासित हुआ। योग की गुप्त प्रणालियाँ अखण्ड साधना की परिवाहक बन गईं और उनका दिव्य शरीर पूर्ण रूपेण योग का सहज स्वरूप बन गया। शनै' शनै अप्रति हत गति से स्वय सिद्ध-समाधि की पूर्ण सिद्धि सुलभ हो गई।

सिद्धि निद्धियाँ तो क्रीत दासी की भाँति नत मस्तक हो आपकी सेवा मे सदैव सन्नद्ध रहा करती थीं। मन क्रम और वाणी का एकीकरण होकर एक दिव्य वैज्ञानिक शक्ति आविर्भूत होगई थी जिससे सत्य-शिव-सुन्दरं की अलौकिक झाँकी प्रदर्शित होती रहती थी। उनकी चिरसगिनी चमत्कृत विभूति ही अमोघाख थी जो यथेच्छा ही लोक हित साधन मे अभ्यस्त थी। आप स्वत निरीह थे—निर्लेश थे। कभी लौकिक भावों का आवेश नहीं होता था। मुक्ति एव मुक्त कामना का किंचिन्मात्र भी शेष न था। अहभाव तो आपके शरीर से छू मन्तर हो गया था। परमात्मा की कठपूतरी की भाँति उन्हीं के आदेशानुसार उन्हीं की चिर खोज में अहर्निश तल्लीन रहते थे। यह समस्त साधनाएं उनकी अव्यक्त अवस्था में ही सिद्ध हो चुकी थीं।

भगवान की ओर से अमृत का प्याला प्रसाद रूप में एवं माता श्री लक्ष्मी की ओर से अगुप्त छाप प्रमाण रूप में प्राप्त हो

चुके थे। इसीलिये महाविष आदि का प्रभाव उनके दिव्य शरीर में कभी नहीं हुआ। बालकों पर अकाट्य स्नेह—मातावों पर अकृत्रिम ममत्व तथा सर्व भूतों पर अनिवार्य दया उनकी महानता के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

परम पिता विधाता-भक्त वत्सल भगवान विष्णु-विभूति धारी सदा शिव के समन्वित रूप की बाँकी झाँकी आपकी सौम्यमूर्ति में प्रत्यक्ष ही अभिव्यंजित होती थी। समदर्शिता ब्रह्मा से, करुण कातरता विष्णु से तथा भोलापन महादेव से वरदान स्वरूप प्राप्त हुआ था। जिससे आप अनिरुद्धगत-निर्भीक-अधाधुन्ध सर्वत्र विचरण किया करते थे। देवेन्द्र कभी कभी आपकी साधना पर आश्चर्य प्रकट करके कहा करते थे कि वह अखण्ड योगी बैठा है। सुरगुरु आप पर कृपा करते थे। शुक्राचार्य मैत्री का भाव मानते थे और सप्तर्षि भी विशेष स्नेह मानते थे। सिद्धों की गोष्ठी-जीवन्मुक्त सन्तों का समागम तथा भक्त पीपा, ध्रुव, प्रह्लाद, कबीर, भुशुण्डि, गुरुनानक देव का साक्षात्कार आपको प्राप्त हो चुका था। प्रायः सत्संग में आप स्वयं ही यह रहस्य अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे। खेद है कि उनकी दिव्य वाणी का यथेष्ट तात्पर्य हम लोग न जान सके।

जगत से सर्वदा उदासीन हो, जगत कल्याण में आजीवन अखण्ड ब्रह्म प्राप्ति की अच्युत परिचर्या ही आपकी अखण्ड साधना थी।

औढर वृत्ति

जैसे शिव मूर्ति विविध उपासकों को विविध विधि से एक साथ ही अभिमत फल प्रदान करती है उसी भाँति श्री स्वामी जी की परम पुनीत विभूति में भी अद्भुत विशेषता थी। उसी दिव्य विभूति से अनेक भक्तों को मनमाना फल मिलता था।

सर्वार्थ एव परमार्थ की एक मात्र कुंजी विभूति थी, स्वयंसिद्ध रसायन थी अलभ्य चिन्तामणि थी, कल्पवृक्ष की सुरभित रज थी, भक्तो की सर्वस्व थी। विश्व मात्र की रक्षा करना ही उसकी महत्ता थी।

आप किसी से कभी कुछ याचना नहीं करते थे। दर्शक गण जो कुछ श्रद्धानुसार प्रसाद-पूजा-भेंट आदि अपने कल्याणार्थ लाते थे वह तत्क्षण वहीं वितरण कर दिया जाता था और विशेषता तो यह थी कि वह कभी न्यून नही होता था। जहॉ पधारते थे बालक गण पकड़ पकड़ कर अपने घरों में ले जाकर विना कुछ खिलाये पिलाये नही छोड़ते थे। और मनमानी भोजन प्रसाद, दही, दूध, मेवा, मिष्ठान्न, फल इत्यादि हर्ष पूर्वक खिलाते-पिलाते थे। दिन दिन भर ऐसा ही अंधाधुंध यज्ञ ठना रहता था। आप सर्व पदार्थ गणपति लम्बोदर की भॉति स्वाहा कर जाते थे, परन्तु आश्चर्य की बात है कि आपके विशाल उदर मे न कभी सम्फुलन होता था और न कभी सकोचन। बालकों के सग खेलते कूदते जिधर ही मोज हो जाती उधर ही चल देते थे फिर कोई बालक उन्हे पकड़ नहीं सकता था।

दीन दुखियों का दुःख आपसे नहीं देखा जाता था। किसी को रोते देख कर आप के नयनों में भी ऑसू आ जाते थे।

अद्भुत रहन सहन

धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थित में मिलता है, और जिसकी चिन्मय आनन्दभा का विकास होता है, भगवत्स्वरूप सन्तों के विशाल मानस में। अलख ओज अध्युपित आजीवन आप तद्वत अवस्था में ही

अभिभूत रहे। ईश्वर भक्ति की अन्तरग व्युत्पत्ति का आपको सम्पूर्ण ज्ञान था।

आपकी मंगलमूर्ति अनूप थी। योग की सजीव प्रतिभातप को मनोरम मूर्ति त्याग के सहज स्वरूप वैराग्य के विश्वस्तीय देवता, अहिंसा के पुजारी परमब्रह्म के अविकल उपासक, आनन्द के अमोघ अवतार, ब्रह्मवाणी के स्वय सिद्ध सद्गुरु, भक्तों के परम पिता, अनाथों के नाथ तथा शरणागतो के तो साक्षात आशुतोष भगवान ही थे। आपका सत्कृति शील लक्ष्य महान अटल था। दीनों का कष्ट निवारण करने में सदैव समु-द्यत रहा करते थे। आप भौतिक शरीर से तो ससार का उपकार और असहाय की सेवा करते थे परन्तु आत्मा से परमात्मा की सतत उपासना किया करते थे। आपके निवास का कोई निर्णीत निकेतन नही था। पहिले तो भूकन्दरा में ही प्राय. निवास करते थे। मध्यकाल में अठसराय, फतेहपुर, बरई, सचेंड़ी, इतरेतर स्थानों मे भी भक्तो के सविनय अनुरोध से यदा कदा निवास करते थे। अन्तिम काल में तो पाली में ही रमे रहे। आपकी गति सर्वत्र थी। भाषा सर्व प्रिय थी और मुद्रा सर्वसुखकर थी। अहर्निश एकासन पर पद्मासनस्थ हो भौतिक निद्रादि को नष्ट करके अम्लान मुख अजस्र ब्रह्मानन्द समाधि में स्वच्छन्द तल्लीन रहा करते थे। उनके दिव्य दृगों से प्रेम जल परिप्लावित होता रहता था। कभी कभी जब दृष्टि खुल जाती थी तो अत्यन्त ही उग्र एव विलक्षण होती थी। मानो अपनी परमनिधि के दर्शनो के लिए जी जान से समुत्सुक हों।

कष्ट सहिष्णु ऐसे थे कि भक्तों का कष्ट स्वय सहन करने का स्वभाव हो गया था। कभी कभी कष्टों का भयानक असह्य रूप प्रकट हो जाता था, जब उन्हे लहू के दस्त इत्यादि हुआ करते

थे। परन्तु तब भी आप स्पष्ट न बताकर यही कहते थे कि पेट के अन्दर गुप्त वैरियों से युद्ध होता है। ऐसी ऐसी अनेकों यातनाएं स्वयं भोगकर अपने प्यारे भक्तों को निरापद किया करते थे।

वीरव्रती ऐसे थे कि जो वचन दे देते थे उसे पूरा करते थे। आप सर्व समर्थ होते हुए भी पैदल यात्रा के बड़े प्रेमी थे।

आपकी अनघ-काया में अथक उत्साह था-मुख मडल पर श्रम बिन्दु कभी नहीं अवगत होते थे। देखने में सबसे मिले हुये पर सबसे न्यारे थे। योगी होते हुये भी आप परमब्रह्म के अनन्य भक्त थे अपनी आत्मा मे ही ईश्वर की स्थिति मानते थे।

असाधारण धारणा

समस्त मानव जाति मे उच्च आदेशों तथा–उदार विचारों के साथ साथ अत्यन्त साधारण, सरल और सुन्दर जीवन के विकास करने का नाम सभ्यता है।

दिव्य जीवन वही है जिसका अन्त दिव्य हो। श्री पूज्य पाद स्वामी जी आजीवन अहिंसा व्रत के उपासक थे और लोकोपकारिता को सदैव ही परमार्थ का प्रमुख अग मानते थे। प्राणिमात्र पर प्रेम करना, दुखियों पर दया करना और भक्तों पर अनुकूल रहना ही उनका सहज स्वभाव था। अहेतुकी लोक हितैपिता की अचल आस्था ही उनकी आदरणीय सभ्यता एवं असाधारण धारणा की भावात्मक महत्ता की उदीयमान उदाहरण थी। जिस प्रकार कृष्ण अपने प्यारे भक्तों को अलक्षित आपदाओं मे बाल बाल बचाया करते थे उसी भाँति आप भी भक्तों की अनिवार्य विपदायें करुणा से द्रवीभूत होकर स्वय ही सहन करते थे और उन्हें निरापद करते थे। वे सर्वान्तरयामी केवल भाव के भूखे थे। आडम्बर पर हसा करते थे विश्वमात्र को ब्रह्म दर्शन का मुकुर मानते थे। किसी शिष्य के मन मुकुर

में विषय की काई देखते तो अन्योक्ति द्वारा समझाकर तत्क्षण निवारण करने का आदेश देते थे। वक्रोक्ति सुनने के आप बड़े ही समुत्सुक थे। व्यंग विनोद से सत्वर गद्गद् हो जाते थे।

संसार के कठिन कर्त्तव्य क्षेत्र में प्रेम को पुष्प की नाईं चुनकर पृथक् कर लेने से वह केवल अपने ही स्वरस से सरस तथा विकसित नहीं रह सकता, किन्तु धीरे विमर्ष एवं विकृत होकर मुरझा जाता है। परञ्च अपनी स्वानुभूति सत्ता से उसे सदैव सजीव रखने की विधि को जो जानता है वही सच्चा ईश्वर भक्त है और वही सच्चा सन्त है। वास्तव में आपकी अनुपम मूर्ति ईश्वर के साकार एवं निरंकार ज्योति की परम पवित्र प्रदीपिका थी। महोदधि रत्नाकर के असीम गर्भ-स्थल से समस्त रत्नों को चयन करना तथा प्रत्येक का गुण वर्णन करना क्षुद्र बुद्धि मानव के सर्वथा परे है; इसी भाँति त्रिगुणात्पर के गुणों का गायन भी अनिर्वचनीय है। दृष्टिगोचर होते हुये भी नभ के तारों की गणना नहीं की जा सकती तब अपूर्व योगी की अन्त-र्निहित धारणा का वर्णन कोई किस प्रकार कर सकता है।

आपकी महिमा सर्व सुखदाई थी। मनोज्ञ मूर्ति में अप्रतिम आकर्षण था। साक्षात्कार होने पर फिर बिछुड़ने को जी नहीं होता था। उनके प्रवचन कर्ण कुहर में न रुक कर सीधे अन्तः करण में प्रविष्ट हो जाते थे। अहेतुकी लोक हितैषिता एवं परब्रह्म निष्ठा ही उनके सहज स्वरूप भूत आत्मा की असाधारण धारणा थी। आपकी महान आत्मा में त्रिकालदर्शी अनूठी ओप-चिराकित थी। विश्वात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन की अचल शक्ति सन्निहित थी। वे विश्व विजयी पूर्ण योगेश्वर थे।

अलौकिक विभूति

अलख निरंजन का रहस्य कौन जान सकता है। वे सब में

समाये ? पर उन्हे कोई पकड़ नहीं सकता है। भेद का नाम ही रहस्य है। जीव मे इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह परम प्रभु की विभूति स्थित की जानकारी प्राप्त कर सके। जब वह भक्त वत्सल भगवान ही स्वय जनाते हैं तभी कुछ जाना जा सकता है। वे महाप्रभु सदगुरु स्वरूप मे पृथ्वी पर अवतरित हुए थे पर हम लोगों ने उन्हे नहीं समझ पाया। जो भाग्यवान महात्मा पुरुष उनको भगवान के रूप मे जान गये उन्हीं पर अलौकिक विभूति का रहस्य प्रकट हुआ। भगवान सद्गुरुदेव को भगवान के रूप में जानने वाले वे भक्त भाग्यवान पुरुष कौन है ? इसे तो वही भगवान ही जान सकते है।

श्री स्वामी जी अद्वितीय प्रेमी थे। वे प्रेम का इतना महत्व जानते थे कि पूर्ण योगेश्वर होते हुए भी अपने को भक्त के हाथ बेंच डालते थे। उनका दर्शन परम सुखमय था। उनकी चिर विभूति में सम्पूर्ण शक्ति परिव्याप्ति थी।

अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रताप से आपका सर्वांग दिव्य तेज से निरन्तर जाज्वल्यमान था। अंग प्रत्यंग पुष्ट और बलिष्ठ थे। स्वास्थ्य सदा निरोग था। सतत् योगाभ्यास के प्रभाव से मुख मण्डल मे अजेय ओज हृदय में अथक उत्साह, इन्द्रियों में प्रबल पराक्रम और धारणा में अनिवार्य शक्ति तथैव च वृत्ति मे परमोदारता थी। आपका शरीर निहग होता हुआ भी दिव्य विभूति से विभूषित था। एक बार बद्रीनारायण तीर्थ यात्रा में पर्वतों से उतरते समय आप साक्षात ऐसे लग रहे थे मानो कैलाशगिर से शंकर भगवान उतरकर पृथ्वी पर पदार्पण कर रहे हों। उनका प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है। उनके प्रेम-दया-प्रभाव और स्वरूप का जितना ही मनन किया जाता है उतना ही वह अधिक दुरुह बनता जाता है। परन्तु अकस्मात उनका वह प्रसन्नानन

स्मृति पथ में आकर पथिक को धूप छाँह की भाँति क्षणिक विश्राम दे जाता है।

आपका अपने मन पर पूर्ण अधिकार था। वे महा मनस्वी, महान, मेधावी, अपूर्वयती, परम विरागी और अद्वितीय योगी थे। आपकी मुद्रा सदैव गम्भीर थी और वृत्ति विशुद्ध शान्त थी। आपका मानस परम पवित्र था—पवित्रता मे ब्रह्मतेज था और उस तेजस में त्रिकालज्ञ दीप्ति उद्दीप्त थी। शील तो नस नस में समाया हुआ था। अपने सुख वैभव की कोई भी कामना नहीं थी। मन निरीह, निर्लेश, निर्भय और अमानी था। आदि से अन्त तक आप परम हंस वृत्ति में ही दृढ़ स्थित रहे। उनकी जीवन धारा में बस एक ही रस बहता रहा। दर्शक गणों को अपना मन्तव्य निवेदन नहीं करना पड़ता था—वे शीघ्र ही समाधान कर दिया करते थे। उनकी मनोवृत्ति का परिपूर्ण चित्रण उन्हीं की बनाई हुई पदावली (ब्रह्मवाणी) में अंकित है।

श्री स्वामी जी की प्रेरणा से प्रेरित होकर भले ही उनकी कतिपय बहिर्विभूतियों का वर्णन किया जा सके परन्तु समष्टि रूप से उनकी आध्यात्मिक विभूति का केवल अनुमान ही निरन्तर असभव है। परम हस वृत्ति ही आपकी स्वाभाविक वृत्ति था और अन्त तक इसी अवस्था में अभिभूत रहे। आपका योग पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँच गया था। तप मे पारगत थे। त्याग और वैराग्य के आदर्श स्वरूप थे। संसार का सम्पर्क उन्हे बाधा नहीं पहुँचा सकता था। ब्रह्मनिष्ठा आदरणीय थी। श्री महापूज्या जन्मदात्री स्वजननी के वरदान से नर से नारायण बन गए थे अर्थात् आप स्वयं सिद्ध सद्गुरु सच्चिदानन्द-भगवान थे। हम सब लोगों को मिल कर निष्कपट भाव से उनकी उपासना करनी चाहिए।

स्वागतम

मानस तल पर खेल रही है जिसकी सुन्दर छाया।
है प्रतिविम्बित रोम-रोम में जिसकी अनुपम माया।
रूप राशि में जिसकी रहता मन विभोर अति ढल सा।
हृदय सिहर उठता प्रिय सुधि में जिसकी चचल जल सा।
स्वागत है उस इष्ट देव का मन मंदिर में आना॥
अभिलाषाओं के नर्तन में नटवर सा मिल जाना॥

ब्रह्मवाणी

श्री स्वामी सद्गुरु देव भगवान के मुखारविन्द द्वारा प्रोक्त-पदावली का अविकल समह ही "ब्रह्मवाणी" के नाम से प्रकाशित हुआ है। ब्रह्मवाणी में भगवान श्री नागा निरंकारी जी की आत्मकहानी अन्तर्निहित है। कबीर की साखी की भाँति 'ब्रह्मवाणी' भी अत्यन्त गूढ भावों से ओत प्रोत है। भाषा अति सरल होती हुई भी ब्रह्मज्ञान पराभक्ति और सम्यक आनन्द के भव्य भावों से सर्वांग समलंकृत है। ब्रह्मवाणी परेज्ञान की खानि है। सत्सङ्ग की समीक्षिका है। परमपद की पथ प्रदर्शिका है। सदभक्ति की प्रदीपिका है। आत्म बोध की अमोध संहिता है। अचल शान्ति को सन्दीपनी है। तथाच् श्री सद्गुरु देव के सहज स्वरूप की चिरस्मति है।

दिव्य लोकारोहण

सन्तों की मौज विलक्षण होती है। उसे भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता। भगवान की इच्छा ही सन्तों की मौज है।

"हरि इच्छा भावी बलवाना"—संसार में समयावरण किसी की अपेक्षा नहीं करता। आवर्त्तन-परिवर्त्तन उसका स्वाभाविक विलास है। प्रारम्भ की चरम सीमा पर्य्यवसान है।

रंग ढंग संसार को, यक सम नहि दिन होय।
ऐसो को वन बाग, जहँ पतझड़ विपति न होय॥

चिराध्युपित राजप्रसाद की सुरस्मृति—भक्तों की अनन्य भक्ति सेवकों की सेवा-संस्कृत शिष्यों का स्नेह पाश तथा विश्व का सार्वजनिक प्यार, उन्हे अधिक अवरुद्ध न कर सका। अकस्मात सबको परित्याग करके इस युग के अद्वितीय त्यागी एव परम विरागी योगीश्वर महापरि निर्वाण पद पर सम्प्रतिष्ठ हो अपने स्वयं सिद्ध स्वरूप में अविकल रूप से समाधिस्थ हुये। उनका भगवत् योग वहन स्पंदन निलय नियोग की प्रणवंकार भूमिका में प्रवेश कर सदा सर्वदा के लिए अचल हुआ। परमहस सद्देवावतार की महापरिनिर्वाण यात्रा निर्भ्रान्त रूप से महाकैलाश की विजेता हुई। माता का दिया हुआ वरदान अमोघ हुआ। मनुष्य जीवन का उद्देश्य सफल हुआ। नर रूप में नारायण का अवतार सार्थक हुआ।

सृष्टि स्वर्ग अपवर्ग त्यागकर, मिला निरन्तर पद निष्काम।
घट घट मे सरनाम हुआ, चिर श्रेयस नागा बाबा नाम॥
प्रकट स्वय हो व्याप्त जहाँ हो, दीन दयाल हरे अभिराम।
उसी रूप में वहीं आपको, बारम्बार सभक्ति प्रणाम॥

सन्त के सदुपदेश

(सकलनकर्ता श्री त्यागी जी)

जिन वाक्यों के मनन से अपना कल्याण हो, सत्य ज्ञान हो वही वास्तव में मन्त्र हैं। "मन्त्र मूल गुरुर्वाक्यं" इसी लिये समझा गया है। अब आगे प्रेमी सज्जन परमहंस जी के मन्त्र-स्वरूप वचनों का मनन करे। समय समय पर जिज्ञासु के प्रश्नो का गुरुदेव ने जो उत्तर दिया है उन्हो उत्तरों का यह सक्षिप्त सकलन है।

१—सब जीवों में ईश्वर का वास है।

२—शरीर को न पूजो यह तो ठूंठ है। भीतर देखो वही सब कुछ है। वहाँ सबका दर्शन होगा।

३—सबकी आत्मा शुद्ध और अकर्ता है। कोई भला बुरा नहीं है।

४—सभी धर्म मत और प्रथायें लोगो ने बना छोड़ा है सब अड-पखड हैं। सभी तोड़े जा सकते है। केवल कुजरती (कुदरती) नियम ही नहीं टूटते है।

५—न कोई किसी का लड़का है न बाप न महतारी। जैसे नदी के प्रवाह में बहुत जगह से लकड़ियाँ आ आ कर इकट्ठी हो जाती है और वायु वेग से फिर जिधर तिधर चली जाती हैं उसी तरह सयोगवश संसार में कहाँ कहाँ के जीव इकट्ठे होते हैं और फिर अलग अलग हो जाते है। किसी मे मोह न करना चाहिये।

६—गृहस्थों के लिये वैराग और साधुओं के लिये योग है। सबों को भजन करना चाहिये। भजन से सब ग्रह शान्त हो जाते है और अल्प कट जाती है। भजन से ही योग होता है। योगी

सब कुछ कर सकता है।

७—आत्मा दो हैं। एक छोटी आत्मा-एक बड़ी आत्मा। बीच में माया है। भजन करते करते माया हट जाती है और छोटी आत्मा बड़ी आत्मा में मिल जाती है।

८—मैं ब्रह्म और माया को मानता हूँ।

९—परमात्मा का स्वरूप तपे हुए सोने के समान पतला-पतला है।

१०—परमात्मा सबके घट में है।

११—हृदय में विष्णु भगवान के चरण का ध्यान होता है।

१२—परमात्मा का तेज अगम अपार है। परमात्मा वे अन्त है।

१३—परमात्मा एक खम्भे की ओट मे छिपे रहते हैं।

१४—परमात्मा खम्भे की ओट से सबको प्रतिक्षण देखा करते हैं।

१५—परमात्मा अपने भक्तों को डोरी पकड़ कर अपने पास खींच लेते हैं।

१६—भक्ति प्रेम, एव ध्यान से भगवान मिलते है।

१७—छोटी आत्मा की कामनायें बड़ी आत्मा से मिलने पर पूर्ण होती है।

१८—जिससे जीव प्रसन्न रहते है उससे परमात्मा भी प्रसन्न रहते हैं।

१९—यह शरीर ठूंठ है इसकी सेवा सुश्रूषा से किसी का कल्याण नहीं होता।

२०—यह शरीर काम देव से बना है इससे मोह नहीं करना चाहिये।

२१—सबकी आत्मा में परमात्मा का वास है।

२२—योग अपने किये से नहीं होता, भजन करने से अपने आप ही हो जाता है।

२३—काम करते रहने पर भी भजन करते रहो।

२४—इच्छा रहित रहना चाहिये, एकान्त रहना चाहिये।

२५—काम-क्रोध-लोभ-मोह और अहंकारादि का त्याग करना चाहिये।

२६—काया में माया लगने से पिया की सुधि भूल जाती है।

२७—पहिले साकार की उपासना करनी चाहिये। साकार के दर्शन होनेके बाद निरकार के दर्शन होंगे।

२८—सब जीवात्मा परमात्मा के अंश है। जैसी परमात्मा की मर्जी होती है वैसा ही होता है।

२९—मोक्ष दो प्रकार का होता है। एक तो अगाध समुद्र में पानी की बूंद की तरह जाकर मिल गया। दूसरा स्वतंत्र होकर इच्छानुसार लोक लोकान्तर में विचरण करता है। भजन से योग योग से वैराग, वैराग से परेज्ञान और परेज्ञान से मोक्ष होता है।

३०—पारब्रह्म प्रणव (ॐ) इत्यादि से परे है। वह कभी अवतार नहीं लेता।

३१—दाहिने अंग में ओंकार है और ओंकार के बायें ओ३म् है। दोनों एक ही अंग में हैं, इस ओ३म् के नीचे पहुँचने पर ही साधक को भजन में सिद्धि मिलती है। दोनों के मध्य में तीन शक्तियाँ है, एक सबसे ऊपर परमात्मा की, दूसरी मध्य में योगी की और तीसरी सबसे नीचे जीव की शक्ति है। ओंकार की बड़ी-बड़ी अनंत शाखायें इधर उधर को चली गई हैं, उन शाखाओं में अनेकों शक्तियों का वास है। ओंकार की एक शाखा हनूमान जी के किले को चली गई है। ओंकार के ऊपर सुमेर पर्वत है, सुमेर पर्वत में सिद्धों के स्थान हैं। ओ३म् के नीचे शिव

जी का विशाल मंदिर है और नैय्या वाला है। एक शाखा के ऊपर गुरु नानक बैठे हुए हरि का भजन करते है। दाहिने अग में हनुमान जी है, वायें अग में पित्र लोक है। वायें में इंगला दाहिने में पिंगला और मध्य में सुखमनी है। उसी के तेज के नीचे एक चक्कर घूमता है, बीच मे बिजली की गरज सुनाई देती है वहाँ का दर्शन अगम है उसका कुछ पार नही मिलता। ध्रुव जी को तो हमने मार्ग मे देखा है। काक भुशुण्ड, प्रह्लाद, पीपा भक्त, गुरु नानक, कबीर तथा अनेको सन्त हमें • ान में मिले हैं।

३२—जो कुछ इस ब्रह्माण्ड मे है वह इस चोले के भीतर से दिखाई देता है। आत्मा अविनाशी है। शरीर का ही जन्म मरण होता है आत्मा-परमात्मा के ज्ञान से जन्म मरण का भय, दुख मिट जाता है।

३३—सत्य का परज्ञान न होने से ही देह के अभिमानी जीव को तमाम दुख भोगने पड़ते हैं। जो कुछ यह दिखाई पड़ता है सब माया है; सब क्षणभंगुर है इसके मोह मे न फसो। किसी की इच्छा न करो, इच्छा से ही बन्धन होता है। एक भगवान को पकड़ो तभी सब सङ्कट और भय मिट सकते है।

३४—अपने को श्रेष्ठ समझ कर कुल का, धन का अभिमान न करो। यह सब नाशवान है सब में एक आत्मा ही सत्य है ऊंच नीच कोई नहीं है। अभिमान से किसी लूले, लंगड़े, काने, कुबरे को देखकर न हँसो और न किसी से घृणा करो। सेवा का मौका मिले तो हीन जाति वाले की भी प्रेम पूर्वक सेवा करो। भेद भाव रखने वाले सब अज्ञानी हैं।

३५—भगवान के भजन से अरिष्ट ग्रह भी शान्त हो जाते हैं लेकिन दूसरे से ही भजन न करवा कर स्वय करना चाहिये, भजन

और तप से पाप कटते हैं।

३६—योग सिद्धि एक ही जन्म में नहीं मिलती। तप करते करते अनेकों जन्म के बाद योग पूर्ण होता है। हम द्वापर युग से तप करते चले आ रहे है तब कहीं इस पद को प्राप्त हुये हैं। अपनी शक्ति भर भजनमें लगेरहना चाहिये पाप-बन्धन धीरेधीरे कटते हैं। एक दम कोई छलाङ्ग मार कर ऊपर नहीं उड़ जाता।

३७—जिसका जिस देवता मे प्रेम हो उसी को खूब मजबूती से पकड़ कर सुमिरन, ध्यान करना चाहिये। जिसका जिससे बोध हो जाय वही उसके लिये सबसे उत्तम है।

३८—ध्यान में परमात्मा के अनेकों रूप आते है। कभी वासुदेव का ध्यान आ जाता है, कभी नारायण का ध्यान, कभी गुरु का ध्यान और कभी शिव जी का ध्यान आ जाता है। वासुदेव का ध्यान घूम कर चलता है और नारायण का ध्यान सीधे चलता है। शरीर के अन्दर ही सभी शक्तियों के दर्शन मिलते हैं। नाभी में ब्रह्मा हैं, हृदय में भगवान के चरण हैं, गले में रुद्र हैं, नासा में अश्वनी कुमार है।

३९—ध्यान में कोई देवता सहायता देते हैं, कोई बाधा डालते हैं, और कोई परीक्षा लेते है। ध्यान योग में कभी तपे हुये सोने के समान चमकता हुआ रूप दिखाई देता है, कभी श्याम और सफेद मिले हुये सुन्दर रूप के दर्शन होते है, एक स्थान पर अखण्ड ज्योति के दर्शन होते हैं, कभी परमात्मा के विराट रूप का ध्यान मिलता है। परमात्मा के निर्गुण निराकार रूप का भी ध्यान होता है, लेकिन परे ज्ञान हुए बिना यह ध्यान योगी के लिये सुगम नहीं है। परमात्मा के सगुण रूप में ही निर्गुण समाया हुआ है यह विराट रूप ही परमात्मा का सगुण साकार रूप है।

४०—बोलते हुये चेतनात्मा की मूर्ति की सेवा ही भगवान् की सच्ची पूजा समझो। चेतन रहित जड़ की पूजा तो बालकों के लिये है। भाव बढ़ाने के लिये वह भी अच्छी ही है।

४१—माया अगम अपार है इसका पार पाना बहुत कठिन है; अधाधुन्ध सुखों के पीछे दौड़ते हुए जीव माया में भूल रहे है परमात्मा के योग-ध्यान से ही कोई माया से अलग हो सकता है।

४२—भगवान का भजन करो सब जीवों में एक आत्मा को पहिचानो सब के साथ दया और प्रेम रक्खो, किसी के साथ झूठा मोह और किसी से द्वेष मत करो।

४३—पहिले भगवान के चरणो का ध्यान रखकर भजन करो तब फिर ऊपर स्वर्ग (त्रिकुटी) में जाओगे।

४४—त्रिकुटी का ध्यान करने में भी भजन करते रहो।

४५—ब्रह्मा-विष्णु-महेश यह तीनों परमात्मा की शक्तियाँ है।

४६—खूब भजन करके परमात्मा में मिलकर अजर-अमर हो जाओ।

४७—एक जगह बैठकर निरभिमान होकर तीन साल तप करके धुरे को पहुँच जाओ।

४८—कलियुग मे मन का पाप नहीं होता।

४९—सबसे अलग रहकर भजन करो संसार में तुम्हारा कोई मित्र नहीं है।

५०—बिना वीरता के भजन-तप कुछ नहीं होता।

५१—बाहर से सबसे प्रेम करो अन्दर से सबसे अलग रहो।

५२—टेढ़ी नजर रखने से कोई पास नहीं आता।

५३—वैराग्य-योग अति कठिन है।

५४—द्वैत-अद्वैत किसी एक मे दृढ स्थित होना चाहिये। केवल पुस्तक पढ़ने से कुछ नहीं होता। जिस धर्म में विश्वास

हो वही अच्छा है उसको रक्षा करना चाहिये।

५५—जगत से उदासीन रहना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये।

५६—फकीरी मन से होती है। लगोटे का सच्चा रहना फकीरी है। किसी की तरफ आँख खोलकर नहीं देखना चाहिये—जीव अन्दर घुस जाते है।

५७—वेप को नहीं विगाड़ना चाहिये। साधुओं को धन दौलत इकट्ठा नहीं करना चाहिये। खाने के लिये जो कुछ आवे खा-पी डालना चाहिये पास में कुछ नही रखना चाहिये।

५८—जब तुम साधु हो गये-भभूत लगाली तो मुरदा हो गये। कोई गाली दे या प्रशंसा करे सबसे उदास रहो।

"कबिरा खड़ा बाजार में, दोनों दीन की खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से वैर॥"

५९—अपने आसन पर इष्ट साधन के समय किसी को न वैठाओ। सग से जीव अन्दर घुस जाते है। अपने अन्दर किसी को न घुसने दो। वाहर से सब पर कड़ी नजर रक्खो और हृदय से दया रक्खो। सबकी सेवा करो।

६०—"चोरी नारी मिथ्या और साधुकी इच्छा" किसी से कुछ मागो नहीं। कोई नशा न करो। किसी जीवको दुःख न दो किन्तु कोई मारने आवे तो ताल ठोंक कर खड़े हो जावो।

६१—भोजन देने वाले का ऋण हो जाता है। भक्तो से अधिक सेवा न लो। उनका कल्याण चाहो।

६२—माइयों के प्रति अपनी दृष्टि बदल दो। सबको माता समझो—चाहे छोटी हो या बड़ी। लगोटी के सच्चे रहो तभी ऊपर उठोगे।

६३—गुप्त रहो कम बोलो। अच्छा उपदेश दो। अपने को

महात्मा जी न कहो। कोई पूछे तो कहो—मै ईश्वर का बन्दा हूँ। कोई वहस करे तो कह दो—मैं कुछ नहीं जानता केवल राम नाम जानता हूँ। कोई झूठ-सच कहे तो हाँ-हाँ करदो। किताब फेंक दो, किताव पढ़ने से क्या होता है। गाने-बजाने में मत पड़ो यह सब माया है।

६४—शरीर को देखोगे तो भजन नहीं होगा।

"रूखा सूखा खाय के ठंढा पानी पी,
देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जी"

जो कुछ रूखा सूखा मिल जाये खुशी से खालो। दो लंगोटी एक आसन एक कंवल ओढ़ने का रक्खो ज्यादा नहीं, पलंग पर न लेटो। हर दम भभूत चढ़ाये रहो।

६५—भ्रमण करने मे वस्ती से अलग (न अति दूर न अति नजदीक) कुये के पास या वृक्ष के नीचे ठहरना। कोई भोजन के लिये पूछे तो कहना "जो तुम्हारी श्रद्धा।"

"भाव का भोजन अमृत कर पावै।
भला बुरा कछु मन न बसावै॥"

६६—वपारी (व्योपारी) की तरह घूमने से भजन नहीं होता। एक स्थान पर हजार दिन रह कर तप करो। आसन के चारो ओर गुण्डा (वृत्त) खीच दो और हनुमान जी की चौकी पढ़कर भजन करने बैठो। सुवह ४ बजे शौच स्नान करके भजन करने बैठ जाओ। अखंड भजन करो। केवल भोजन अथवा शौच आदि के लिये ही उठो। रात में कुत्ते की नींद सोते हुये वारवार उठ कर भजन करते रहो।

६७—मन को शान्त करने के लिये हृदय में विष्णु भगवान के चरणों का ध्यान करो। मन को एकाग्र करके त्रिकुटी में ध्यान लगावो।

६८—साधु को अपने आसन में दृढ़ रहना चाहिये, डट कर भजन करने से वहीं पर ऋद्धिसिद्ध आजाती हैं लेकिन बहुत धैर्य और सन्तोष की आवश्यकता है। किसी से राग और द्वेष न करना चाहिये, साधु को गृहस्थो के घर मे भी न रहना चाहिये। क्योंकि सङ्ग से दोप उत्पन्न हो जाता है। दिल दरियाव के समान है न जाने किस समय कैसी लहर उठ सकती है, उसमें बड़े बड़े बुद्धिमान भी वह जाते हैं; इसीलिये सबसे अलग रहना चाहिये।

६९—चित्त मे यह ख्याल रख कर सोना चाहिये कि हमको भजन करना है। रात्रि में बार-बार उठ कर भजन करना चाहिये, ऐसा करने से नींद कम हो जाती है। गोरखनाथ तो एक बड़ी रस्सी रखते थे, दिन में भजन करते हुये उसमें गाँठ लगाते थे और रात्रि में भजन करते हुये उन गाँठों को खोला करते थे।

७०—जब अपने गुरु से मिलना हो तो सोते समय एकाग्र मन करके यह दृढ भावना करो कि "हमें स्वामी जी के दर्शन करने जाना है" रोज ऐसा अभ्यास करने से तुम आत्मा रूपसे गुरु के समीप पहुँचने लगोगे। उस रूप से ही तुम्हारी प्रार्थना सुनी जायगी। मुँह से विनती करने मात्र से कुछ नहीं होता, जब तक ध्यान मे जीवात्मा से भेट न हो।

७१—साधु होकर किसी को शाप न देना चाहिए, हो सके तो अपनी शक्ति से दूसरे का भला ही करना चाहिए। कोई अपने को गाली दे या स्तुति करे या निन्दा करे तो बुरा भला न मानना चाहिये, ग्रामोफोन की आवाज की तरह लोगों के शब्द मानकर, कहने वालों के प्रति राग द्वेप न करना चाहिये।

७२—साधु को तपस्या और भजन कहीं न छोड़ना चाहिये, जो छोड़ते हैं वही दुख भोगते हैं। साधु को कोई भी नशा न करना चाहिये। किसी भी नशे के व्यसन से बुद्धि मलिन होती

है, एक राम नाम का ही अमल रखना चाहिये, इसीसे बुद्धि निर्मल होती है और परे (परम) ज्ञान होता है।

७३—सभी प्राणियों में भगवान को व्यापक जानकर मन ही मन सबके प्रति ऊँचा भाव रखना चाहिये, प्रणाम करना चाहिये, दिल में गरीबी धारण करना चाहिये।

७४—तुमसे किसी की सेवा बन जाय या किसी को कुछ देने का अवसर मिले तो अभिमान न करो इससे पुण्य क्षीण हो जाता है। दूसरों को सता कर सुख न चाहो, फुरसत होने पर अपना काम अपने हाथों से करो। किसी से काम कराओ तो उसकी ठीक ठीक मेहनत चुका दो।

७५—टिकट लिये विना रेलगाड़ी में न चढ़ो। पैसा न हो तो पैदल चलो, मुफ्त यात्रा करने से वेष का अपमान होता है। साधु वेष को किसी चोरी से, दुराचार से कलंकित न करना चाहिये। धन और मान का भी लालच न होना चाहिये।

७६—इस युग में धर्म की बहुत हानि होती जा रही है, बिना धर्म के उन्नति नहीं होती, धर्म सबको शान्ति की ओर ले जाता है। धर्म से ही लोक परलोक में सुख मिलता है।

कुछ प्रश्नोत्तर

प्रश्न—हम जन्म-मरण से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने के लिये किसका ध्यान करें ?

उत्तर—पहिले जप करो, जप से ही अपने आप ध्यान का रास्ता मिल जायगा। सब ने पहिले जप ही किया है, गुरु नानक, कबीर आदि भी जप से ही चले हैं। हमें तो लड़कों के साथ खेलते खेलते ही ध्यान हुआ है, और ध्यान से ही हमें लक्ष्मी जी के दर्शन हुये हैं और सती जी से भी भिक्षा ले आए हैं। ध्यान में श्री लक्ष्मी जी ने मुझे आशीष दिया और मेरे दाहिने हाथ में अपने हाथ के अंगूठे की छाप लगा दिया और कहा कि 'अब तुमको भगवान के पास जाने में कोई भी नहीं रोक सकता और तुम वृद्धावस्था में कैलाश जीतोगे।' हमें तो लक्ष्मी जी ने अपने आप यह वरदान दिया है।

ध्यान योग से जब मैं भगवान के पास गया तो हनूमान जी ने मुझे रोका, उसी समय मेरा दाहिना हाथ जिसमें लक्ष्मी जी के अंगूठे की छाप लगी थी अपने आप ही ऊपर उठ गया, उस छाप को देखकर वे चुप हो गये फिर नहीं रोका, जब द्वार में पहुँचा तो जय, विजय भगवान के पहरे में खड़े थे उन्होंने भी अन्दर जाने से रोका। जब भगवान ने उन्हें रोकने से मना किया तब हम भगवान के समीप तक पहुँच सके। भगवान का क्रीट, कुंडल, मुकुट धारी ऐसा वह दिव्य रूप था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक समय ध्यान में मैं ऐसी जगह पहुँचा कि जहाँ बहुत से ऋषि लोग इकट्ठा थे। वहाँ पर अमृत बट रहा था, मेरे पास ही शुक्राचार्य भी खड़े थे, शुक्राचार्य ने मुझे इशारा किया कि अमृत लेकर पी लो। मैंने हाथ बढ़ाकर अमृत का

कटोरा लेकर पी लिया, उसी समय से ही मैं जन्म-मरण से (अर्थात् पुनर्जन्म के बन्धन से) मुक्त हो गया हूँ। जब मैंने अमृत पी लिया तो ऋषियों ने कहा कि यह कौन है किसी को प्रणाम भी नहीं किया और अमृत पी लिया, बड़ा अभिमानी है। उन्होंने मुझे शाप दे दिया तभी से मेरे पेट में यह रोग हो गया है।

प्रश्न—स्वामी जी! आप लक्ष्मण झूले के ऊपर से गङ्गा जी में क्यों कूद पड़े थे?

उत्तर—मुझको ऐसा मालूम हुआ कि गङ्गा जी के नीचे ऋषि बैठे हैं तो मैं कूद पड़ा। वहाँ ऋषियों के पास एक चक्र पड़ा था उसी चक्र के बीच में मेरा पैर चला गया। ऋषियों ने कहा कि तुम यहाँ कहाँ आगये, मैंने कहा कि मैं भी आगया हूँ, ऋषियों से बात-चीत होने के बाद फिर मैं वहाँ से चला आया।

प्र०—कलङ्की अवतार हो चुका है या अभी नहीं?

उ०—अवतार तो हुआ है लेकिन वह छोटा अवतार मेघनाद का है, बड़ा अवतार नहीं है, बड़े अवतार को अभी बहुत समय बाक़ी है। यह अवतारी बालक हमें ध्यान में दीख पड़ा था, अभी यह पता नहीं लगा कि वह क्या करेगा? इतना और देखा है कि उत्तराखंड से कुछ फौजें युद्ध करती हुई लाइनें उखाड़ती हुई इधर ही चली आती हैं। मुसलमान और अंग्रेज भागते जाते हैं। जब युद्ध होगा तब तो हमें भी मोर्चे पर आगे रहना पड़ेगा। इस समय दुनिया में बारह योगी तप कर रहे हैं, दुनिया की लड़ाई और सुलह में हम लोग ही आगे रहा करते हैं। जब अंग्रेजों और जर्मनों का युद्ध हुआ था तब भी हमें ध्यान योग से बराबर मोर्चे में रहना पड़ा था।

प्रश्न—अर्जुन वीर महारथी थे अन्त में उन्हे भीलों ने कैसे

लूट लिया, जिस अर्जुन ने महाभारत में सभी वीरों पर विजय पाई थी ?

उत्तर—अर्जुन क्या वीर था ? इससे कवच कुण्डल और पाँच बाण न ले जाता तो क्या जीत सकता था ? छल करके सब वीर मारे गए, उसकी जीत हुई, अर्जुन के साथ कृष्ण का जो बल था उसे जब कृष्ण ने ले लिया तब अर्जुन इतने निर्बल हो गए कि भीलों ने लूटा ।

अमोघ आदेश

(गृहस्थों के प्रति)

१—शरीर में बल रक्खो। डटकर भोजन करो। दूसरे के धन का लोभ न करो। सत कमाई से पैदा करो। कुछ पैसा रोज बचाकर रक्खो। कर्ज न लो और न धरोहर धरो।

२—अपने आश्रितों (मनुष्य-पशु-पत्ती) को तकलीफ न दो। उनकी सेवा करो। बालकों पर क्रोध न करो। उन्हें बनाकर रक्खो, दूध पिलाओ। खेलने दो, पढ़ा लिखाकर कमाने खाने दो। ज्यादा माया में न पड़ो। ब्याह छोटी अवस्था का अच्छा होता है।

३—किसी पर चोट न करो। दूसरा करे तो वीरता धारण करो। रक्षा के लिये पास में अस्त्र रक्खो। घर में गुप्त मार्ग रक्खो। सोने के पहिले सब घर देखकर (कहीं कोई छिपा न हो), किवाड़ बन्द करो। अपना भेद किसी को न दो।

४—सबसे मिलकर चलो। आततायी का युक्ति से मिलकर नाश करो।

५—स्त्रियों के चमड़े (रंग) से मोह या घृणा न करो। स्त्री शक्ति है, माता है, उसका आदर करो। किसी स्त्री का हाथ पकड़ो तो उसे बीच धार में न छोड़ो। धर्म से निर्वाह करो।

६—तीर्थयात्रा, पूजा, पाठ, ब्राह्मण भोजन से धर्म नहीं होता। दूसरे का दुःख दूर करो। परमार्थ में पैसा खर्च करो। अपने आश्रितो को त्याग कर साधू न बनो, उनका शाप लगेगा। वैराग से रहकर भजन करो।

७—तुम नारी की कभी निन्दा न करो, स्त्रियों को शक्ति माता की दृष्टि से देखो। अपने घर में पत्नी यदि किसी कर्म

वश लंगडी, लूली, मूर्ख, कुरूप भी मिल जाय तो उसके साथ अच्छा व्यवहार करो उसी से सन्तोप करो। जिसके घर में स्त्रियाँ दुखी रहती है तो उनका दुःख ही पुरुषों के लिये शाप बन जाता है, और जिस घर में स्त्रियाँ सुखी सन्तुष्ठ रहती हैं तो उनका सुख ही आशीर्वाद बन जाता है।

८—तुम्हारे घर में गऊ, बैल जो भी पशु हों उनकी खूब सेवा करो। कभी भूखे प्यासे न रहें, दुबले न होने पायें। अपने सामने पेट भर उन्हें खिलाओ। पशुओं की सेवा से बहुत पुण्य होते हैं। जब कि उन्हें खाने पीने का दुःख मिलता है तो पाप भी बहुत होता है।

९—जो तुम्हारे नौकर हों उनके पेट भरने का ध्यान रक्खो, भूखे प्यासे नौकर से काम न लो।

१०—तुम्हारी कोई बुराई करे, हानि करे तो उसे दो तीन बार माफ कर दो, इतने पर भी वह न माने तो उसे दण्ड दो या दिलाओ।

११—सब जीवों पर दया करो, दान दो।

१२—वीरता धारण करो बिना वीरता के न योग होता है और न गृहस्थी। सब पर प्रेम रक्खो किसी से घृणा या मोह न करो। ऊँच नीच अपने पराये का विचार अज्ञान है सबको समान देखो। पुरुपार्थ करो पुरुपार्थ से ही सब कुछ होता है।

१३—विचार कर काम करो। कर्म फल अवश्य भोगना पड़ता है।

१४—धर्म करो, भूखे टूटे को भोजन वस्त्र दो। गरीबों का उपकार करो।

१५—अनाथों का साथ दो, बीमारों की सेवा करो; दूसरों को दुख न दो, ज्ञान रक्खो। सब दुःख सुख अज्ञान के कारण ही है।

स्त्रियों के प्रति

स्त्रियों के सब कुछ भगवान है। पति देवता काले, गोरे, लंगड़े, विद्वान और मूर्ख आदि, कैसे भी हों दृढ भावना से भगवान समझ कर, प्रसन्न चित्त से उनकी सेवा करने से, और पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए गृहस्थी को भली प्रकार चलाने से स्त्री का कल्याण होता है। इसके साथ ही जो पतिव्रता नारी ईश्वर भक्त होती है, वह पति के साथ वैकुण्ठ लोक को प्राप्त होती है।

घर को प्रेम से संभालो, आँख में लज्जा रक्खो, कपड़े का परदा (घूँघट) बेकार है। बल-वीरता व आत्म रक्षा के लिए गुप्त अस्त्र रक्खो, कोई बलात्कार करना चाहे तो मार दो या काया काट लो। अपने पति को देवता तुल्य मान कर सेवा करो। बच्चों को मारो पीटो नही प्यार से शिक्षा दो।

गुरुदेव का स्मरणीय आश्वासन

"जो मेरा ध्यान करेंगे मैं सहज ही उनके हृदय में मिलूँगा।"

सन्त दर्शन का अन्तिम प्रसाद

(सम्पादक)

"जो मेरा ध्यान करेंगे मैं उनके हृदय मे मिलूँगा।"

—यह वह पवित्र वाक्य है जिसे सन्त-सद्गुरु ने अपने शरणागत भक्तों से कहा है, और इसलिये कहा है कि प्रेमी भक्त गुरुदेव की अनुपस्थिति मे भी ध्यान योग के द्वारा अपना हार्दिक सम्बन्ध बनाये रह सकें, जिससे कि गुरुदेव की दया, कृपा का कभी तार न टूटे।

आज सन्त-सद्गुरु का स्थूल रूप हम सबके साथ नहीं है फिर भी गुरुदेव अपनी अविनाशी दिव्यात्मा के रूप से अपने इच्छित धाम में विराजमान हैं और इनका ध्यान जो कोई भी हृदय से करता है उस पर इनकी आज भी सदा की भाँति दया कृपा की वर्षा होती रहती है। इसका अनुभव आज अनेको भक्त कर रहे हैं।

ध्यान रखने वाले भक्तों पर गुरुदेव की आज भी जैसी कृपा, दया होती रहती है उसके कुछ दो चार संस्मरण देकर हम यह लेख समाप्त करेंगे।

गुरुदेव के परम धाम पधारने के पश्चात् उनकी पवित्रतम स्मृति तथा ध्यान योग की सुलभता के लिये स्थान पाली में भक्त अमरनाथ ने समाधि-मन्दिर बनवाने का संकल्प कर लिया। उस समय देशों में महायुद्ध छिड़ा हुआ था। लोहा, सीमेन्ट, लकड़ी आदि इमारती सामान शासनाधीन मर्यादा के भीतर मिलता था—जिसके लिये अत्यन्त कठोर श्रम करना पड़ता था। भक्त अमरनाथ बहुत ही कठिनता से सब सामान एकत्रित कर रहे थे

उन्हीं दिनों मन्दिर बनवाने का कार्य आरम्भ हो चुका था। गुरुदेव की कृपा पर पूर्ण विश्वास था। जो काम, जो सामान बड़े-बड़े कुशल कर्मी व्यक्ति पूर्ण न कर पाते थे उसकी पूर्ति एक अनभिज्ञ बालक के द्वारा देख कर यही कह देना पड़ता था कि इस भक्त के पीछे महान् शक्ति की कृपा है।

अमरनाथ की प्रतिभा तथा वैभव की दशा की वृद्धि इस परिवार से द्वेष रखने वाले व्यक्तियों को असह्य तो थी ही, इन द्वेषी, ईर्ष्यालु व्यक्तियों को एक अवसर मिल गया। वस्तु-वितरण के अधिकारी (कन्ट्रोल आफिसर) शासक से अमरनाथ की शिकायत कर दी गयी। सीमेन्ट, लोहा, इमारती सामान तो जमा ही था, अफसर को पूरा पता दे दिया गया था। धनी रईसों के ऊपर पुलिस की नजर तो प्रायः रहती ही है। किसी प्रकार चक्कर में डाल पावे तो हजारों के फायदे होते हैं। उस समय मुसलमान इंस्पेक्टर था, पुलिस सिपाहियों से एक लारी भर कर पाली पर धावा करने को तैयार हुआ, अचानक उसी समय उसके लड़के की विशेप कारण से मृत्यु हो गई, उसने तुरन्त अपने कोप से, षड्यन्त्र से, परिपूरित यात्रा को स्थगित कर दिया। इधर भक्त अमरनाथ की भयानक आशङ्का-काण्ड से अदृश्य शक्ति द्वारा रक्षा हो गई। अमरनाथ को सावधान होने का अवसर मिल गया। यह है गुरुदेव की कृपा का कृत्य।

कुछ स्वस्थ होने पर उस इन्चार्ज अफसर ने अमरनाथ को बुलाया। जवाब माँगा, अमरनाथ ने जिस सत्यता और निर्भयता से उत्तर दिया उससे वह अफसर बहुत प्रभावित हुआ और दिल खोल अपने मन की सब भेद भरी बातें बताईं। पुत्र शोक से उसका हृदय कुछ अभिमान रहित शुद्ध हो चुका था। पुत्र मृत्यु का कारण जो कुछ भी हो पर अमरनाथ की रक्षा का

तो वही निमित्त था। उस हाकिम के ऊपर अमरनाथ को बहुत ही दया आई मैं तो यही कहूँगा कि उस समय स्वयं दीन-दुख-हारी गुरुदेव ही अमरनाथ के मुख से बोल उठे कि 'शोक मत करो, अब शीघ्र ही तुम्हे पुन. पुत्र की प्राप्ति हो जायगी।' ठीक समय पर कुछ ही दिनो मे उस हाकिम के घर में पुत्र का जन्म हुआ। वर्षों बीत जायेंगे फिर भी उस हाकिम को अपने पुत्र के मृत्यु की और पुन पुत्र प्राप्ति की रहस्य पूर्ण घटना याद रहेगी। इस प्रकार की घटनाये हमें सावधान करती है कि हम सब लोग अहंकार की सीमा से ऊपर उठ कर गुरु कृपा का आश्रय लेवें।

समर्थ सद्गुरुदेव अपने आश्रित भक्तों की सङ्कट के अवसर में अदृश्य रूप द्वारा रक्षा करते है। जब कभी स्वप्नादेश देकर, कभी ध्यान में सूचना देकर, सामयिक कर्तव्य का ज्ञान करा देने के लिये आज भी गुरुदेव सबके साथ ही रहते से प्रतीत होते हैं।

जिस समय सभी भक्तों की सम्मति से पाली के समाधि मन्दिर में मूर्ति स्थापना का संकल्प हो चुका था, मूर्ति बनने का प्रबन्ध भी किया जा चुका था। एक दिन गुरुदेव ने माता जी से स्वप्न में मूर्ति प्रतिष्ठा के लिये यह कहते हुये मना कर दिया, कि 'जहाँ समाधि बनी है वहाँ मूर्ति प्रतिष्ठा की क्या जरूरत।' उसी दिन से प्रतिमा बनवाने का विचार छोड़ दिया गया, क्योंकि गुरुदेव की प्रतिमा अटसराय में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

डिप्टी महेन्द्रपाल सिंह जी गुरुदेव के अनोखे भक्त तथा, उनकी पुत्री भी गुरुदेव की परम भक्त थीं उसके विवाह की समस्या बहुत ही जटिल थी। आठ दस वर्ष की खोज में भी समुचित वर न मिल रहा था। भक्त का गुरुदेव मे अटल विश्वास था, अन्त में गुरुदेव ने ध्यान में डिप्टी साहब को वर

का रूप रंग कद सब कुछ दिखा दिया, और जिस दिशा मे तथा स्थान में वह लड़का रहता था उसका भी आभास करा दिया। वहीं विवाह हो गया। इन्हीं सब घटनाओं से सिद्ध हो जाता है कि गुरुदेव अपने ध्यान करने वाले भक्त के हृदय मे होकर कृपा करते रहते है। भक्त अमरनाथ का संकल्प था कि जब तक समाधि मन्दिर न बन जायगा, तब तक विवाह न करेंगे। उन्हीं दिनों मे बड़े-बड़े रईसों के घरो से विवाह की चर्चा चली मन्दिर पूर्ण होने तक चलती रही। बहुत उलझन का विषय था, कि किस घर में विवाह पक्का किया जाय। अमरनाथ ने गुरुदेव के आगे सारी समस्या रख दी, एक दिन आदेश मिला कि अमुक शादी करना उचित है—बस उसी आधार पर बड़े-बड़े रईस घरों से सम्बन्ध न जोड़ा गया और एक साधारण परिवार मे विवाह पक्का कर लिया गया।

बरई ग्राम मे महावीर सिंह जी गुरुदेव के अनन्य श्रद्धालुओ मे से है उनकी धर्म पत्नी कई दिन ज्वर आने के कारण मरणासन्न दशा में पहुँच गई नाडी छूटने लगी परिवार के लोगों ने ब्रह्मवाणी का पाठ आरम्भ किया सभी गुरुदेव का ध्यान करने लगे समीप मे बाबा रतन निधि बैठे हुए थे कुछ देर बाद ही उस देवी को होश आया, वह बोल उठी, गुरुदेव महाराज आये है समीपस्थ व्यक्तियों ने कहा—आये हैं तो बैठाओ, वह कहने लगी, कहाँ बिठायें जगह नहीं है, इतने में बाबा रतन निधि कुरसी से उठ खड़े हुए, उसने कहा, महाराज इसी मे बैठिये, गुरुदेव का दर्शन उसी रुग्णा देवी को ही हो रहा था और किसी को नहीं। उसने कहा, महाराज बहुत दिन में मिले हो अब न जाने देंगे इतना कहते हुए ओढ़ने के वस्त्र से अपना हाथ बाहर निकाल लिया, जब लोग हाथ पुनः भीतर करने लगे तब वह

बोली, हमारा हाथ यूँ ही रहने दो महाराज जी का वस्त्र पकड़े है जिससे कि ये चले न जायें। इसी प्रकार पुनः दूसरे दिन वह बेहोश हुई और उसी प्रकार ब्रह्मवाणी का पाठ तथा गुरुदेव का ध्यान परिवार के लोगों ने किया फिर उसने देखा कि दो काले काले पुरुष घर में घुस आये हैं उन्हें गुरुदेव ने निकाल बाहर किया है, इतना देखने के बाद होश आया तीसरे दिन फिर वही बेहोशी की दशा और इधर लोगों ने ब्रह्मवाणी का पाठ तथा ध्यान किया। वह देवी यह कहते हुए सावधान हुई कि महाराज अब न मारो। उसने बताया कि हमें दो आदमी 'आरे से चीर रहे थे उन्हे गुरुदेव ने खूब मारते हुए भगाया तभी दया वश उसके मुँह से निकल पड़ा कि अब इन्हे न मारो। यह है गुरुदेव के ध्यान की महिमा और श्रद्धालु विश्वासी जीवों पर गुरुदेव की कृपा, जो कि अब भी प्रगाढ़ विश्वास एवं श्रद्धा के अनुसार प्रतीत होती रहती है।

इस प्रकार की घटनायें प्रायः होती रहती हैं इससे हमें यह पता चलता है कि जीव के कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल भयानक दुःखद दण्ड के रूप में भोगना पड़ता है उनके साथ ही जिसने सन्त सद्गुरु का आश्रय ले लिया है उस श्रद्धालु भक्त की रक्षा भी कृपा द्वारा होती रहती है। जमदूतों की यातना से बचाने में गुरुदेव का एव भगवान के पावन नामो का स्मरण परम सहायक है, समर्थ है।

यह और भी आश्चर्य की बात है, कि गुरुदेव की कृपा उन भक्तों पर तो है ही जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप के सामने शरण ली थी—इसके अतिरिक्त उन भक्तों पर भी गुरुदेव की समय-समय पर दया होती रहती है जिन्होंने इनके साकार रूप को कभी नहीं देखा, किन्तु जो इनका ध्यान करते रहते हैं,

उनको भी गुरुदेव भावानुसार स्वप्न में या ध्यान में दर्शन देते हैं। किन्तु दर्शन उन्हीं को देते हैं जो दृढ़ प्रीति के भाव से हृदय में ध्यान करते हैं।

पाली के भक्त परिवार में माता जी तथा उनकी दोनो पुत्रियो को विशेष चिन्ताजनक परिस्थिति में ध्यान करने पर जो स्वप्ना-देश हुए, इसी प्रकार डिपटी साहब को दृढ़ निष्ठा के अनुसार जिस प्रकार गुरुदेव उन्हे आदेश देते रहते हैं, साधु केवल करण जी, साधु रतन निधि को अनेकों वार जो आदेश निर्वाण पद में प्रतिष्ठित होने के बाद गुरुदेव देते आरहे है, उन सब का वर्णन करना मेरी लेखनी शक्ति के वाहर है। मैं स्वयं अपने प्रति जो गुरुदेव की कृपा का अनुभव करता आ रहा हूँ उसका किञ्चित भी वर्णन न किया है, न कर सकूँगा। केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे समीप आने वाले, मुझ पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों व्यक्तिों में से, यदि किसी को कुछ ज्ञान रूपी प्रकाश मिला, यदि कभी किसी को मुझमें कुछ विशेष चमत्कार दिखाई दिया, यदि मेरे द्वारा किसी को कुछ शान्ति मिली, वह सब मेरे पीछे रहने वाली सद्गुरु देव की ही महती दया एवं शक्ति की महिमा है, मेरी ओर से उसमें कुछ भी नहीं है। मेरी ओट में गुरुतत्व की ही कृपा है।

मैं स्वयं तो गुरुदेव का इतना ध्यान भी अपने हृदय में दृढ़ नहीं देखता, जितना की मेरे द्वारा दूसरे प्रेमी गुरुदेव का ध्यान रखते हैं, इसीलिये मैं स्वयं सद्गुरुदेव की कृपा का इतना लाभ नही उठा पाता जितना कि मेरे द्वारा मेरे प्रेमी गुरुदेव की कृपा से लाभ उठा रहे हैं, उन्नति कर रहे हैं।

प्रत्येक श्रद्धालु को गुरुतत्व के सम्बन्ध में बहुत गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये और गुरुदेव के स्वरूप को जानने

के लिये गुरुदेव से ही प्रार्थना करनी चाहिये। इन्हीं की कृपा से, इनके सत्स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा। गुरुदेव ही बुद्धि रूपी दृष्टि खोलते हैं और ज्ञान रूपी प्रकाश किरणों को फेंकते हुए अपने आपको प्रकाशित करते हैं।

गुरुदेव एक नाम रूप में बँध कर नहीं रहते। ज्ञान स्वरूप से सब में प्रकाशित हैं, और अपने शरणागतों को यह ज्ञान स्वरूप गुरुदेव ही मार्ग दिखाते हैं। गुरुदेव को एक देह में, एक स्थान में, बद्ध मानना भारी भूल है। यह किसी भी नाम, रूप के द्वारा हमारा कल्याण कर सकते हैं। हमें ज्ञान प्रकाश दे सकते हैं, फिर भी ये एक नाम रूप में ही हैं, ये सर्वत्र हैं। जो कोई गुरुदेव का ध्यान अपने हृदय में करता है या करेगा, उसे ये सदा सन्मार्ग दिखाते हैं और दिखाते जायेंगे।

गुरुदेव के आदेशों को स्वीकार करना और उसी के अनुसार चलना ही इनकी सेवा है, इन्हें अपने से दूर न मानना ही इनकी भक्ति है। इनकी कृपा, दया से अपने को कहीं भी वञ्चित न देखना ही इनके प्रति दृढ़-विश्वास है। अपने क्षुद्र अहंकार को गुरुदेव के समक्ष समर्पित रखना ही इनकी पूजा है। गुरुदेव के ज्ञान से अपने को अभिमान शून्य बना लेना ही इनकी स्तुति है। गुरुदेव के शरणापन्न होकर अपने को सांसारिक संयोग, वियोग के बन्धन से मुक्त कर लेना ही इनका नित्य योग है।

प्रेमी सज्जनो! आओ! सावधान होकर हम सब एक साथ परमानन्द स्वरूप गुरुतत्व का अपने में अनुभव करते हुए परमानन्दित होवें।

ओम शान्ति. शान्तिः शान्तिः

हे ! सद्गुरु

हे सद्गुरु ! शरणागत हम हैं स्वीकार करो ॥
अधम उधारक हे प्रभु, मेरा उद्धार करो ॥

हम माया, मान बद्ध, अजितेन्द्रिय, कृपण, दीन ।
राग द्वेष, परिपूरित मेरा मन, अति मलीन ।
मुझको शुभ मति गति दो, सद्यः उपचार करो ॥

दूर करो दुखहारी, दुर्गम देहाभिमान ।
देख सकें सत्स्वरूप, ऐसा दो विशद ज्ञान ।
हे समर्थ मेरे प्रति भी, यह उपकार करो ॥

बन जायें हम पवित्र प्रेमी, निष्काम हृदय ।
और अचंचल चित हो, मिल जाये आत्म विजय ।
मेरे दुख दोषों का, स्वामिन संहार करो ॥

हम तुम मय हो जाये, तब समझें सत्यसंग ।
मिट जाये अन्तर से, जो कुछ भी असत् रङ्ग ।
'पथिक' तुम्हारे पथ में परमेश्वर पार करो ॥

तुमही हो आधार

सद्गुरु एक तुम्हीं आधार ॥

जब तक तुम न मिलो जीवन में,
शान्ति कहाँ मिल सकती मन में।
खोज फिरे, ससार ॥

जब दुख पाते अटक अटक कर,
सब आते है भूल भटक कर।
एक तुम्हारे द्वार ॥

जीव जगत में सब कुछ खोकर,
बस बच सका तुम्हारा हो कर।
हे मेरे सरकार ॥

कितना भी हो तैरनहारा,
लिया न जब तक शरण सहारा।
हो न सका वह पार ॥

हे प्रभु तुम्ही विविध रूपों से,
सदा बचाते दुख कूपों से।
ऐसे परम उदार ॥

हम आये है शरण तुम्हारी,
अब उद्धार करो दुख हारी।
सुन लो पथिक पुकार ॥
सद्गुरु एक तुम्हीं आधार ॥